# ^dLrjh d.My cl* vkj ^xfM;k Hkhrj xfM;k* e vfHk0;Dr L=h thou

**Life of the Women as Expressed in 'Kasturi Kundal Basai' and 'Gudiya Bhitar Gudiya'**


,e- fQy- ¼fgnh½ mikf/k d fy, iLrr y?k 'kks/k&ic/k

'kks/k funs'kd
Mk- vkeidk'k fl

'kks/kkFkh
LohVh ;kno



Hkkjrh; Hkk"kk dUn
Hkk"kk] lkfgR; ,o lLÑfr v/;;u lLFkku
tokgjyky ug: fo'ofo|ky;
ub fnYyh &110067



2012

t okgj yky ug : fo'ofo|ky ;
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
Centre of Indian Languages
School of Language, Literature & Culture Studies
New Delhi- 110067, INDIA

Date:.....

## DECLARATION

I declare that the work done in the Thesis/Dissertation entitled "**'KASTURI KUNDAL BASAI' AUR 'GUDIYA BHITAR GUDIYA' MEIN ABHIVYAKT STREE-JEEVAN' [Life of the Women as Expressed in 'Kasturi Kundal Basai' and 'Gudiya Bhitar Gudiya']** submitted by me is an original work and has not been previously submitted for any other degree or any other University/Institution.

Sweety Yadav
(Research Scholar)

Dr. Om Prakash Singh
(Supervisor)
CIL/SLL&CS/JNU

Prof. Rambux
Chairperson
CIL/SLL&CS/JNU

समर्पित ...

मम्मी-पापा को,

जिनका विश्वास मेरे जीवन की

सबसे बड़ी उपलब्धि है।

“उठो कि
अपने अंधेरे के खिलाफ उठो
उठो अपने पीछे चल रही साजिश के
खिलाफ
उठो, कि
तुम जहां हो वहीं से उठो
जैसे तूफान से बवंडर उठता है
उठती है जैसे राख में
दबी चिंगारी”

# vkHkkj

इस लघु शोध प्रबंध के पूर्ण होने में मेरे शोध निर्देशक और श्रद्धेय गुरू डॉ. ओमप्रकाश सिंह के मार्गदर्शन और सहयोग को शब्दों में बयां नहीं किया जा सकता। विषय चयन से लेकर लघु शोध प्रबंध के इस रूप में आने तक उनके निर्देशन और सुझावों का अमूल्य योगदान रहा है। उनके महत्त्वपूर्ण सुझावों ने शोध को मजबूती देने का काम किया है।

सामग्री संकलन और शोध की दिशा तय करने में मैत्रेयी पुष्पा का अमूल्य योगदान रहा है। उनका व्यवहार मेरे प्रति सदैव वात्सल्यपूर्ण रहा है। 70 वर्ष की उम्र में भी कार्य के प्रति उनकी लगन और निश्ठा वास्तव में प्रेरणादायी है।

जीवन जीने और बनने के क्रम में सबसे पहला नाम आता है – बाई (दादी) का, जो आज इस दुनिया में नहीं हैं, लेकिन यादों के रूप में वह आज भी मेरे लिए जीवित हैं। उनका प्यार मुझे सदा से ही हौसला देता रहा है। आज जब मेरा यह शोधकार्य पूर्ण हो सका, तो इसे संभव बनाने में परिस्थितियों के साथ ही आत्मीयता से जुड़े कुछ रिश्ते भी अपना बेहद महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। आज मैं जो कुछ और जैसी भी हूँ, अपने मम्मी–पापा के आशीर्वाद और स्नेह से हूँ। दीदी और जीजाजी का मार्गदर्शन और स्नेह मेरे लिए संजीवनी–बूटी समान रहा है। प्रीती और सुशान्त से की गई नोंक–झोंक मन को हल्का करने का काम करती रही हैं। भैया–भाभी का मुझ पर अटूट विश्वास मुझे संबल देने के साथ ही जिंदगी जीना भी सिखाता है। आर्यन, श्रृयांकी, अंशिका की शरारतें मन को ताजा करने का काम करती रही हैं।

शोध कार्य को व्यवस्थित बनाने में व्योम सर और संदीप सर के सहयोग को कैसे भूला जा सकता है। बातों को समझाने में रीतिका किसी टीचर से कम नहीं। वीरेन्द्र और अजयपूर्ति का सहयोग  अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है। प्रभात सर, श्याम भैया, विपिन सर और राजीव को धन्यवाद जिन्होंने शोध के लिए निरन्तर हौसलाअफजाई की है। अशोक जी के सहयोग के कारण ही यह लघु शोध प्रबंध टाइप हो सका है। ऑफिस संबंधी कार्यों में दुलारे जी के सहयोग की मैं आभारी हूँ।

अंत में, शब्दों में खुद को रचती देखती हूँ...।

स्वीटी यादव
जेएनयू, नई दिल्ली

# Hkfedk

'आत्मकथा' पढ़ते समय सबसे पहला सवाल उठता है कि – 'आत्मकथा' में अभिव्यक्त सच समाज का सच है अथवा नहीं ? शोध के माध्यम से हम रचना में अभिव्यक्त सत्य की जाँच करते हैं। आत्मकथा के माध्यम से हम समय और समाज के जीवन–मूल्यों की व्यावहारिक स्तर पर जाँच–पड़ताल करते हैं। साहित्य की अन्य विधाएँ जैसे उपन्यास, कहानी एवं नाटक आदि यथार्थ के बजाए कल्पना को अधिक महत्व देते हैं, जबकि आत्मकथा में लेखक को कल्पना के पर ही काट देने पड़ते हैं। वहाँ सपनों और आकांक्षाओं का सृजन तो होता है, लेकिन कल्पनाओं का नहीं। वहाँ वास्तविक एवं ठोस यथार्थ की दुनिया होती है। आत्मकथा में वर्णित घटनाएँ, स्थितियाँ एवं अनुभव लेखक के जीवन से संबंधित होते हैं। आत्मकथा विधा का आकर्षण शोध के लिए जिज्ञासा पैदा करने के साथ ही प्रेरणा देने का काम भी करता है।

मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा मेरी अपनी धरती बुन्देलखंड से निकली हुई कथा है। बुन्देलखण्ड की जिस धरती से मैत्रेयी आई हैं, उसी से मैं भी हूँ। आत्मकथा को पढ़ते हुए उन पात्रों, स्थानों से मेरा परिचय स्वतः होता गया। आत्मकथा को पढ़ते हुए लगा, जैसे मैं अपने ही गांव –घर की कथा पढ़ रही हूँ। मैत्रेयी की भाषा मेरे इस जुड़ाव का एक अन्य कारण बनती है। भाषा माँ का रूप होती है। उससे उतना ही अपनत्व मिलता है, जितना अपनी धरती से। मैंने खुद को उस भाषा के नजदीक ही नहीं बल्कि उसमें शामिल भी पाया। आत्मकथा पढ़ते समय बुन्देलखण्ड के जो दृश्य मेरे सामने बनते चले गए, अक्सर ही मैं उन्हें देखती आयी हूँ। वहाँ के पेड़–पौधे, खेत–खलिहान, पहाड़, तालाब, नदी आदि के जो भी दृश्य मेरे आसपास बन रहे थे, उन्हें मैं बचपन से देखती आ रही हूँ। चाहे वह जुझारपुरा हो या समथर या फिर मोंठ। बेतवा नदी हो या फिर तालबेहट का मनोरम स्थल। आत्मकथा में वर्णित पर्व, त्यौहार, गीत और लोक कथाएँ सभी बुन्देलखण्डी संस्कृति की उपज हैं। यहाँ की संस्कृति मुझे सदा से आकर्षित करती रही है।

मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा को शोध का विषय बनाने का महत्त्वपूर्ण कारण है – उसमें अभिव्यक्त 'स्त्री जीवन का समग्रता में चित्रण'। मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा मात्र एक स्त्री की कथा न होकर सम्पूर्ण स्त्री जाति के जीवनानुभवों की कथा बनकर हमारे सामने आती है। यहाँ स्त्री के व्यक्तिगत जीवन की गोपनीयता को छिपाया नहीं जाता,

वरन् उजागर कर दिया जाता है। स्त्री –जीवन की जो समस्याएँ आत्मकथा में अभिव्यक्त की गई हैं, वे कोई आयातित स्त्री विमर्श की फैशनेबल समस्याएँ नहीं हैं। ये समस्याएँ हमारे गांव घर की स्त्रियों की सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक समस्याएँ हैं। मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा ड्राइंगरूमी फैशन के बरक्स ग्रामीण स्त्री की कथा है। ऐसी स्त्री, जो शहर में रम ही नहीं पाती।

मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा का परिवेश आजादी के कुछ वर्ष पहले से शुरू होकर इक्कीसवीं सदी की दहलीज तक फैला है। इसमें स्त्री अपनी स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ रही है, जो आज भी अनवरत् जारी है। इन वर्षों में हमारा समाज किस प्रकार बदला है, इसे मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा में बखूबी दिखाया गया है। यहाँ बदलते समय के अनुसार समाज का पूरा प्रतिबिंब खड़ा हो जाता है। समाज में बदलाव की जद्दोजहद अनवरत् जारी है और स्त्री उसे किसी भी कीमत पर पाना चाहती है । मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा आदर्शों के खोखलेपन को पूरी निडरता के साथ बयाँ कर देती है। संस्कृति के नाम पर किए जाने वाले लोकाचारों को यह आत्मकथा पूरी तरह से खारिज कर देती है।

इस आत्मकथा को पढ़ते हुए शर्म की परतें अपने आप खुलती गयीं। पारिवारिक गोपनीयता के तहखाने भी बिना लाज शर्म के निरावरण रूप में आते गए। लेखिका इस बात की परवाह नहीं करती है कि लिखने के बाद समाज में उसकी छवि कैसी बनेगी ? मैत्रेयी खुले प्रसंगों पर अपनी इज्जत तक दांव पर लगाने का साहस करती हैं। कितनी ही शालीनता की पुतलियाँ आज भी घरों में कैद हैं, कितनी ही पिंजरे की मैनाएँ आज विवशता भरी चीखों में घुट रही हैं। मैत्रेयी की आत्मकथा ऐसी ही हजारों स्त्रियों की गाथा है, जो बंधनों से मुक्ति चाहती हैं।

यह आत्मकथा मात्र एक साहित्यिक विधा न होकर बदलाव की निशानी भी है। सनाका खाए समय में हलचल सी मचाती। आपबीती के बहाने जगबीती सुनाती। मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा–'कस्तूरी कुण्डल बसै' और 'गुड़िया भीतर गुड़िया' के इसी वैशिष्ट्य ने मुझे इस विषय पर शोध कार्य करने के लिए प्रेरित किया। अन्य आत्मकथाओं की तरह ये जीवन का ब्यौरा भर नहीं देतीं, बल्कि रास्तों की तलाश करती हैं, विकास का मार्ग तैयार करती हैं।

मेरे लघु शोध प्रबंध का विषय है – ''कस्तूरी कुण्डल बसै' और 'गुडिया भीतर गुड़िया' में अभिव्यक्त स्त्री जीवन'। यह लघु शोध प्रबंध तीन अध्यायों में विभक्त है। पहला अध्याय है – 'हिंदी में आत्मकथा लेखन की परंपरा और उत्तरजीविता'। अध्याय के

पहले उपअध्याय में आत्मकथा के सिद्धांत पक्ष पर विचार किया गया है। दूसरे उपअध्याय में आत्मकथा की परंपरा और तत्वों पर विचार किया गया है। इस उपअध्याय में हिंदी साहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देने वाली आत्मकथाओं का संक्षिप्त परिचय भी दिया गया है। अध्याय के तीसरे उपअध्याय में महिला–आत्मकथा लेखन के समकालीन परिदृश्य पर विचार किया गया है। इस उपअध्याय में हिंदी की प्रमुख स्त्री आत्मकथाओं – 'जो कहा नहीं गया', 'लगता नहीं है दिल मेरा', 'दोहरा अभिशाप', 'एक कहानी यह भी', 'पिंजरे की मैना', 'और और औरत' और 'शिकंजे का दर्द'– पर विचार किया गया है।

लघु शोध प्रबंध का दूसरा अध्याय है – ''कस्तूरी कुण्डल बसै' और 'गुड़िया भीतर गुड़िया' में अभिव्यक्त स्त्री जीवन के विविध पक्ष'। अध्याय के पहले उपअध्याय में कस्तूरी और मैत्रेयी के बचपन का वर्णन किया गया है। दूसरे उपअध्याय में विवाह संस्था पर विचार किया गया है। तीसरे उपअध्याय में कस्तूरी और मैत्रेयी के पति–पत्नी सम्बंधों के बनते–बिगड़ते समीकरणों का वर्णन किया गया है। चतुर्थ उपअध्याय में समाज में स्त्री के प्रति पुरुषवादी मानसिकता पर विचार किया गया है। पाँचवे उपअध्याय में स्त्री–जीवन के संघर्ष पर विचार किया गया है। छठे उपअध्याय में 'अस्मिता' को केन्द्र में रखकर स्त्री जीवन पर बात की गई है।

तीसरे अध्याय का शीर्षक है – 'मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा की सार्थकता'। इस अध्याय के पहले उपअध्याय में स्त्री आत्मकथाओं की प्रासंगिकता पर विचार किया गया है। दूसरा उपअध्याय मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा पर केन्द्रित है। इस उपअध्याय में 'कस्तूरी कुण्डल बसै' और 'गुड़िया भीतर गुड़िया' में अभिव्यक्त परंपरा और नवीनता के द्वंद्व पर विचार किया गया है। तीसरे उपअध्याय में मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा में अभिव्यक्त सामाजिक मूल्यों पर विचार किया गया है।

'उपसंहार' शीर्षक के अंतर्गत शोध में प्राप्त निर्भ्रांत निष्कर्षों को प्रस्तुत किया गया है।

# vuØef.kdk


Hkfedk — i-iv

iFke v/;k; % fgUnh esa vkRedFkk y[ku dh ijaijk vkj mUkj thfork — 1&51

(क) आत्मकथा क्या है ?

(ख) आत्मकथा की परंपरा और तत्व

(ग) महिला आत्मकथा लेखन का समकालीन परिदृश्य

f}rh; v/;k; % ^dLrwjh dk.My cl* vkj ^xfM;k Hkhrj xfM;k* esa vfHk0;Dr L=h thou dh fofo/k i{k — 52&104

(क) बचपन : एक अलग पहचान की माँग

(ख) विवाह संस्था और स्त्री

(ग) पति-पत्नी संबंध : बनते-बिगड़ते रिश्ते

(घ) स्त्री के प्रति पुरुष दृष्टिकोण

(ड.) स्त्री जीवन का संघर्ष

(च) अस्मिता तलाशती स्त्री

r`rh; v/;k; % e=s;h i"ik dh vkRedFkk dh lkFkdrk — 105&140

(क) आत्मकथा लेखिकाएँ और उनकी आत्मकथा की प्रासंगिकता

(ख) मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा : परंपरा बनाम नवीनता

(ग) सामाजिक मूल्य और मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा

mi lgkj — 141&145

lanHk xFk lwph — 146&153

lk{kkRdkj — 154&161

iFke v/;k;

# fgUnh e vkRedFkk yi[ku dh ijijk vkj mÙkj thfork

¼d½ vkRedFkk D;k g \

¼[k½ vkRedFkk dh ijijk vkj rRo

¼x½ efgyk vkRedFkk yi[ku dk ledkyhu ifjn';

आत्मकथा लेखन व्यक्ति अथवा जाति की अस्मिता से सीधे-सीधे जुड़ता है। व्यक्ति जब स्वयं की अस्मिता को लेकर आश्वस्त अथवा सचेत होता है तो वह समाज अथवा राष्ट्र के सम्मुख स्वयं को व्यक्त करने का साहस जुटाता है या उसकी अनिवार्यता को महसूस करता है। आत्मकथा सही मायने में उस व्यक्ति का इतिहास होती है। अगर उस व्यक्ति को संदेह हो कि उसके इतिहास को विकृत भी किया जा सकता है तो वह अपना इतिहास स्वयं ही लिखने को प्रवृत होता है। जिस तरह इतिहास लेखन की कई विधियाँ, दिशाएँ और अवधारणाएँ हैं, ठीक उसी तरह आत्मकथा की भी। यही कारण है कि इतिहास लेखन की ही भाँति आत्मकथाओं पर भी कई तरह के आरोप लगते रहे हैं। कभी उस पर किसी की छवि धूमिल करने के आरोप लगते हैं तो कभी आत्मप्रशस्ति के या अन्य तरह के। कहने का आशय यह है कि इतिहास लेखक की भाँति आत्मकथा लेखक भी कभी निर्विवाद नहीं रहा। उसकी तटस्थ आलोचना की गुंजाइश हमेशा बनी रही है। कहानी, उपन्यास या कविता जैसे रचनात्मक साहित्य में जो पात्र, घटनाएँ या परिस्थितियाँ काल्पनिक रूप में व्यक्त होती हैं, वही आत्मकथा में अनिवार्य रूप से वास्तविक रूप में व्यक्त होती हैं। वास्तविक रूप में व्यक्त होने और समझे जाने की वजह से ही आत्मकथा लेखन के साथ साहस का अनिवार्य संबंध है।

अस्मिता से जुड़ाव के कारण ही अस्तित्ववादी दर्शन के प्रभाव में एक समय में काफी आत्मकथाएँ लिखीं गई। इसका प्रभाव केवल यूरोप में ही नहीं, भारत में भी रहा। उस समय लिखे जा रहे नाटक, उपन्यास, कहानी और कविता सभी के कथ्य और शिल्प दोनों पर इसका प्रभाव देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए 'बाणभट्ट की आत्मकथा' या 'शेखर : एक जीवनी' को देखा जा सकता है। यहाँ तक कि हिंदी भाषा जब अपनी अस्मिता के संकट से गुजर रही थी तो कवियों ने 'मैं' शैली को अपनाकर पूरी हिंदी कविता को आत्मकथात्मक बना दिया। आज जबकि अस्मितावादी विमर्श साहित्य की मुख्यधारा में है, आत्मकथा लेखन विपुल मात्रा में हो रहा है। चूँकि आत्मकथा आज की एक प्रमुख विधा बन गई है इसलिए उसका मूल्यांकन समकालीन साहित्य को समझने के लिए उपयोगी ही नहीं, बल्कि अनिवार्य भी है।

¼d½ vkRedFkk D;k g\

'आत्मकथा' शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है – आत्म + कथा। "आत्म का तात्पर्य अपने संदर्भ में व्यक्ति के सचेतन अनुभवों, विचारों, चिंतन एवं भावनाओं की समग्रता से है।"[1] कथा का अर्थ है – कहानी। व्यक्ति द्वारा अपने जीवन के अनुभवों का वर्णन ही आत्मकथा है। आत्मकथा स्वयं को जानने का माध्यम है, साथ ही शोधने का भी। इसके साथ ही आत्मकथा व्यक्ति को संसार से जोड़ने का काम भी करती है।

आत्मकथा को अनेक नामों से पुकारा जाता है – आत्मजीवनी, आपबीती, आत्मकहानी, आत्मवृत्तांत, आत्मगाथा, आत्मचरित्र, जीवनकथा आदि। आत्मकथा एक प्रकार से अपने ही शरीर में पुनर्प्रवेश है। प्रेमचंद ने आत्मकथा को "अपने हृदय पट को, अपनी ठोकरों को, अपनी हारों को प्रकट करना"[2] कहा है। आत्मकथा यदि एक ओर अपनी आत्मा को देखने का, उसे पहचानने, भली-भाँति समझने का साधन है, तो दूसरी ओर वह असंख्य लोगों के मध्य स्वयं को निष्कवच प्रस्तुत करने का माध्यम भी। मैनेजर पाण्डेय के शब्दों में – "आत्मकथा लेखक की आत्मा का आईना होती है।"[3]

यह एक ऐसा माध्यम है, जो लेखक को अपने समय, समाज और परिस्थितियों को ध्यान में रखकर अपने ही विचारों, अपने ही अनुभवों और अपने ही व्यक्तित्व को खंगालने का काम करती है। "आत्मकथा 'दूसरों' के साथ 'अपने' जीवन प्रसंगों का साझा है।"[4] यह एक ऐसा परीक्षण है, जो व्यक्ति में जीवन के प्रति एक दृष्टिकोण पैदा करता है।

'आत्मकथा' के उद्देश्य पर बात करें, तो प्रेमचंद के शब्दों में कहा जा सकता है कि इसके माध्यम से -"आदमी अपने जीवन के तत्त्व आपके सामने रखता है, अपनी आत्मा के संशय और संघर्ष लिखता है, आपसे अपनी बीती कहकर अपने चित्त को शांत करना चाहता है आपसे अपील करके अपने उद्योगों के औचित्य पर राय लेना चाहता है।"[5] आत्मकथा लिख कर लेखक अपने जीवन पर से पर्दा उठाता है। अपने अनुभवों को दूसरों तक पहुँचाकर लेखक एक प्रकार से दूसरों के ज्ञान-संवर्धन में सहयोग प्रदान करता है। आत्मकथा लिखकर लेखक कई बार सहानुभूति अर्जित करने की कोशिश करता है, तो कई बार अपनी प्रतिष्ठा की वृद्धि के लिए भी आत्मकथा लिखता है। इन सबके बावजूद आत्मकथा एक सशक्त माध्यम है स्वयं को इस संसार से जोड़ने का। आत्मकथा लेखन का एक उद्देश्य यह भी है – 'मानसिक तनाव से मुक्ति'।

अतीत की स्मृतियाँ कभी-कभी मस्तिष्क पर ऐसा प्रभाव छोड़ जाती हैं कि लेखक उन्हें अर्जित करने के लिए व्याकुल हो जाता है। चूँकि इसमें सच्ची और वास्तविक घटनाओं, अनुभवों आदि का वर्णन होता है, इसलिए पाठक भी उस सच्चाई को पढ़ने के लिए बेचैन हो उठता है। आत्मकथा के द्वारा पाठक लेखक से एक अंतरंग मुलाकात करता है और लेखक के वे अनुभव भी जान लेता है, जो बिल्कुल उसके निजी होते हैं। एक प्रकार से आत्मकथा जिए हुए जीवन को दोबारा जीने का नाम है। आत्मकथा लिखना साहस का कार्य है। हर व्यक्ति जीवन जीता है, किन्तु जीए हुए जीवन को व्यक्त करने की हिम्मत सबमें नहीं होती। किसी को अपनी प्रतिष्ठा का भय रहता है, तो किसी को अपने रूतबे का। महान बनने की ललक तो सबमें होती है, किन्तु अपनी कमियों को उजागर करने की इच्छा कुछ गिने-चुने लोगों में ही होती है। कई बार आत्मकथा न लिखने के पीछे यह भी कारण होता है कि व्यक्ति सोचता है कि उसके जीवन का सच अगर समाज, परिवार जान जाएगा, तो उसकी इज्जत कम हो जाएगी। दूसरों के बारे में कहना तो आसान होता है, लेकिन अपने बारे में कहना सबसे कठिन। ईमानदारी और सच्चाई से कहना तो और भी मुश्किल है। साहित्य कोश में आत्मकथा लिखने के उद्देश्य के संदर्भ में लिखा गया है – "(1) आत्मनिर्माण, आत्मपरीक्षण या आत्मसमर्थन अतीत की स्मृतियों को पुनजीर्वित करने का मोह या जटिल विश्व के उलझावों में अपने आप को अन्वेषित करने का सात्विक प्रयास। (2) लेखक के अनुभवों का लाभ अन्य लोग उठा सकें।"[6]

आत्मकथा ही उस जीवन सत्य से हमारा साक्षात्कार कराती है, जिसको जीना अत्यन्त कठिन होता है। एक प्रकार से आत्मकथा द्वारा स्वयं को सार्वजनिक चौराहे पर खड़ा कर देना है, बिना परवाह किए कि लोग क्या कहेंगे। वही आत्मकथा महत्त्वपूर्ण मानी जाती है, जिसमें अपनी चिन्ता किए बगैर खुद को आग में झोंकने का साहस हो। स्वयं के विश्लेषण के साथ ही निज द्वंद्वों, निज-दुविधाओं का चित्रण भी आत्मकथा के लिए महत्त्वपूर्ण है। समाज और साथ ही स्वयं के जीवन में व्याप्त पाखंड से पर्दा हटाने का काम करती है – 'आत्मकथा'। "जहाँ सच न बोलने की सावधानी होती है, वहाँ झूठी आत्मकथाएँ होती हैं।"[7] आत्मकथा आंतरिक सत्य के छिपाव की कोशिश से मुठभेड़ करती हुई आडम्बरपूर्ण शराफत के कपड़े उतारने का काम भी करती है। यही कारण है कि आत्मकथा अनुभव-जगत से जुड़ने का सशक्त माध्यम है। वास्तव में आत्मकथा काँच के बने कमरे के समान है, जिसके पार खड़ा व्यक्ति उस कमरे की एक-एक चीज को देख

लेता है। वास्तविक जीवन से अपनी नजदीकियाँ कायम करती हुई, आत्मकथा जीवन के सत्य से हमारा साक्षात्कार कराती है। ज्ञान और अनुभव जितना बाँटो, उतना ही बढ़ते हैं, फिर यहाँ यह प्रश्न ही नहीं उठता कि – 'बात बोलेगी हम नहीं'। अरे! यहाँ तो हम स्वयं ही बोलेंगे। यदि हम ये अनुभव अपने तक सीमित कर लेते हैं, तो हमारी मृत्यु के उपरान्त वे अनुभव भी मिट्टी में मिल जाएँगे। आत्मकथा एक प्रकार से समाज और संस्कृति को बदलने का दृढ़ संकल्प भी हमारे सामने रखती है। वह उस मशाल का कार्य करती है, जो समाज को उन्नतशील बनाने के लिए निरन्तर रास्ता दिखाती है।

हिंदी साहित्यकोश में आत्मकथा का अर्थ – "आत्मकथा लेखक के अपने जीवन का संबद्ध वर्णन है।"[8] मानक हिंदी कोश में आत्मकथा को जीवन की कहानी बताया गया है। भार्गव शब्दकोश में आत्मकथा को 'स्वलिखित जीवनी' कहा गया है। हिंदी शब्द सागर में आत्मकथा को जीवन भर का वृत्तांत कहा गया है। समानान्तर कोश में आत्मकथा को 'आत्मचरित, आत्मचरित्र, तुजुक, मेरी कहानी' कहा गया है।

डॉ. नगेन्द्र के अनुसार-"जब कोई व्यक्ति अपनी जीवनी स्वयं लिखता है, तब उसे आत्मकथा कहते हैं।"[9] डॉ. नगेन्द्र ने आत्मकथा को अतीत और वर्तमान के बीच एक संबद्ध सूत्र के रूप में परिभाषित किया है।

मैनेजर पाण्डेय के अनुसार आत्मकथा जीवन का पुनर्निर्माण है और विस्मृति के विरुद्ध स्मृति का संघर्ष। अमृता प्रीतम के अनुसार आत्मकथा यथार्थ से यथार्थ तक पहुँचने की प्रक्रिया है। हरिवंशराय बच्चन के अनुसार आत्मकथा आत्म चित्रण का एक माध्यम है। मन्नू भंडारी के अनुसार आत्मकथा अपने निजी और सार्वजनिक अतीत को देखने और दिखाने की लेखकीय प्रक्रिया है।

दरअसल आत्मकथा अपने माध्यम से दूसरों को और दूसरों के माध्यम से स्वयं को जानने की प्रक्रिया है। आत्मकथा व्यक्ति के भोगे हुए जीवन की सच्चाई है। वहाँ कल्पना का स्थान नहीं होता, वरन् निपट ईमानदारी की जरूरत होती है। प्रेमचंद ने भी आत्मकथा लेखन के लिए ऐसे अनुभवों को महत्त्वपूर्ण माना, जिनमें कल्पना तनिक भी न हो।

महात्मा गाँधी के अनुसार आत्मकथा जीवन के अनुभवों पर एक नया प्रयोग कर उन अनुभवों को प्रकाश में लाने का काम करती है। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने आत्मकथा के संदर्भ में लिखा है – "आत्मकथा जीवन का सत्यान्वेषण है, कल्पना के अवकाश की कोरी

उड़ान नहीं है।"[10] डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के अनुसार 'आत्मकथा' अत्यधिक निजी होते हुए भी सार्वजनिक होती है।

रूसो ने अपनी आत्मकथा 'आत्मस्वीकृतियाँ' में लिखा है – "यह जो कुछ मैंने किया है, जो कुछ मैंने सोचा है, जो कुछ मैं था, मैंने अपनी अच्छाई और बुराई दोनों को ही एक समान बेबाकी के साथ बयान किया है। न तो मैंने कुछ बुरा छिपाया है और न ही कुछ अच्छा गढ़ा है।"[11] रूसो ने आत्मकथा के लिए बिना किसी लाग-लपेट के, जो कुछ जैसा है – उसे वैसा ही प्रस्तुत करना अनिवार्य माना है। रूसो की आत्मकथा 'आत्मस्वीकृतियाँ' मनुष्य को गहराई से समझने की दृष्टि प्रदान करने के साथ ही मानव-अस्तित्व के अनेक छिपे हुए रहस्यों से पर्दा भी उठाती है। अपनी युवावस्था की कमजोरियों गलतियों को भी रूसो ने पूरी ईमानदारी के साथ प्रस्तुत किया है। आत्मकथा के माध्यम से पुरानी स्मृतियाँ एकदम तरोताजा हो जाती हैं, जिसे रूसो ने भी स्वीकारा है – "मेरे सर्वोत्तम वर्षों की मीठी यादों ने, जिनमें भोलेपन और मानसिक शांति की बराबर की मात्रा थी – मुझ पर हजारों मोहक प्रभाव छोड़े हैं जिन्हें बार-बार याद करना मुझे बहुत आनंद देता है।" "[12]

आत्मकथा स्मृतियों का एक ऐसा मिला-जुला रूप होती है, जिनमें से कुछ स्मृतियाँ रूलाने वाली होती हैं, तो कुछ को याद कर हम खुशी से उछल पड़ते हैं। अतीत में की गई गलतियों का स्मरण कर हम यह सोचते हैं कि ऐसी गलती न किए होते, तो कितना अच्छा होता। और फिर हम स्वयं को सुधारने की प्रक्रिया में लग जाते हैं।

कृष्णा अग्निहोत्री आत्मकथा को अभिव्यक्ति का माध्यम मानते हुए लिखती हैं - "जीवन तो सभी जीते हैं, परंतु कुछ कहने-सुनने से ही समय की कहानियाँ बनती हैं – बहुत झेला, बहुत भोगा, बहुत सहा... नहीं सहन हुआ तो लिख डाला।"[13]

स्पष्ट है कि आत्मकथा आपकी बात दूसरों तक पहुँचाने का काम करती है। आत्मकथा उन तमाम लोगों से आपकी अंतरंग मुलाकात कराती है, जिनसे आप कोसों दूर बैठे हुए होते हैं। आत्मकथा का केन्द्रीय विषय स्वयं लेखक होता है। इसलिए उसके सामने अनेक समस्याएँ भी होती हैं। सबसे पहली समस्या यह होती है कि वह जीवन के किन प्रसंगों को सामने रखे ? दूसरी यह कि वह किसप्रकार अपनी बातों को सामने रखे, ताकि पाठक का उसके प्रति विश्वास पैदा हो। कभी-कभी आत्मकथा में आत्ममुग्धता की स्थिति भी पैदा हो जाती है और हम देखते हैं कि आत्मकथा का उपयोग स्वयं को महान

बनाने की कोशिश और दूसरों पर दोषारोपण करने के लिए किया जाता है। ये दोनों ही स्थितियाँ खतरनाक हैं। अतः जरूरी यह है कि 'आत्म' से एक दूरी कायम करते हुए व्यष्टि और समष्टि के बीच एक संतुलन स्थापित करने की कोशिश की जाए। वही आत्मकथाएँ महत्त्वपूर्ण मानी गई हैं, जिनमें अपनी पोल खोलने के साथ ही समाज में व्याप्त पाखंड को उजागर करने का साहस हो। पंकज चतुर्वेदी ने ठीक ही लिखा है – "आत्मकथा में हम अपने सब-कुछ को सार्वजनिक कर देने के साहस और फिर उस सार्वजनिकता में से अपने को दुबारा पा लेने के अचरज के बीच लगातार आवाजाही करते हैं।"[14]

आत्मकथा के विशिष्ट रूप को समझने के लिए इसे अन्य विधाओं – डायरी, संस्मरण, जीवनी, रेखाचित्र, यात्रावृत्त, रिपोर्ताज के बरक्स रखना उचित होगा, क्योंकि इन विधाओं को आत्मानुभव प्रधान होने के कारण प्रायः आत्मकथा समझ लिया जाता है।

आत्मकथा और जीवनी दोनों का ही विषय व्यक्ति और उसका व्यक्तित्व है। किंतु दोनों में एक बड़ा अंतर है – आत्मकथा का लेखक जहाँ स्वयं वही व्यक्ति होता है, जिसका वर्णन आत्मकथा में होता है, जबकि जीवनी का लेखक द्रष्टा होता है, जो दूसरे व्यक्ति के अनुभव, उसके जीवन आदि का वर्णन करता है। आत्मकथा का लेखक स्वयं भोक्ता होता है, जबकि जीवनी का लेखक मात्र द्रष्टा होता है। निज जीवन का वर्णन 'आत्मकथा' है, तो परजीवन का वर्णन 'जीवनी'। स्वानुभूत तथ्यों के आधार पर लिखे जाने के कारण आत्मकथा 'जीवनी' से अधिक विश्वसनीय होती है। अतः यह कहना उचित ही होगा कि आत्मकथाकार जितनी गहराई में उतर सकता है, जीवनी लेखक नहीं। आत्मकथा में स्मृति का जितना महत्त्व है, उतना जीवनी में नहीं। व्यक्ति की आत्मकथा तो सिर्फ एक ही होती है, लेकिन एक ही व्यक्ति की जीवनी अनेक हो सकती है। अतः आत्मकथा जीवनी से अधिक प्रामाणिक है। जीवनी में जन्म से मृत्यु तक का विवरण होता है, जबकि आत्मकथा में भोक्ता ही लेखक होता है। अतः वहाँ जीवन की सम्पूर्ण घटनाओं का विवरण न होकर उस अवधि तक का वर्णन होता है, जिसको लेखक ने जीया है। इस प्रकार 'आत्मकथा' और 'जीवनी' समान प्रतीत होने के बावजूद एक-दूसरे से भिन्न हैं। आत्मकथा और संस्मरण दोनों में ही अतीत की स्मृतियों और स्वानुभूतियों का वर्णन होता है। "डिल्थे कहते हैं, संस्मरण में लेखक अपने जीवन की घटनाओं को सिर्फ एक बाहरी प्रेक्षक की मुद्रा में बयान करता है, जबकि आत्मकथा लिखते समय वह इन घटनाओं को

दृश्य के भीतर से समझने और उन्हें एक संगठित निजी अर्थ देने की कोशिश करता है।"[15]

एक तरह से संस्मरण को 'आत्मकथा की सामग्री' कहा जा सकता है, लेकिन आत्मकथा नहीं। आत्मकथा और रेखाचित्र दोनों में स्मृतितत्त्व मुख्य है। किंतु जहाँ आत्मकथा में कल्पना का स्थान नगण्य है, वहीं रेखाचित्र में कल्पना एक मुख्य और अहम् तत्त्व का काम करती है। किसी व्यक्ति का शब्दों द्वारा ऐसा चित्र प्रस्तुत कर देना कि उसका व्यक्तित्व सजीव हो उठे, 'रेखाचित्र' कहलाता है। अतः रेखाचित्र में सम्पूर्ण विवरण उतना महत्त्व नहीं रखता, जितना आत्मकथा में। वहाँ केवल कुछ गिने-चुने शब्द या वाक्य ही उस व्यक्ति के स्वरूप को उद्घाटित करने में सफल होते हैं, जबकि आत्मकथा में सम्पूर्ण विवरण आवश्यक ही नहीं वरन् महत्त्वपूर्ण भी होता है।

आत्मकथा समस्त जीवन का वर्णन है, जबकि डायरी किसी विशेष अनुभूति का वर्णन है। "डायरी मूलतः अपने लिए लिखी जाती है तथा वह एक गहरे वैयक्तिक रुझान से चालित होती है, जबकि आत्मकथा अपने साथ-साथ दूसरों के लिए भी लिखी जाती है।"[16] डायरी लेखक केवल उस दिन विशेष का विश्लेषण करता है, जबकि आत्मकथा सम्पूर्ण जीवन का पुनरावलोकन है। डायरी मात्र तत्कालीन अभिव्यक्ति होती है, अतः यह खण्डशः अनुभूमि को ही प्रस्तुत करती है। इस कारण उसमें तारतम्यता का अभाव रहता है। डायरी में 'आत्म' का वर्णन तो होता है, लेकिन कथा नहीं। इस दृष्टि से 'आत्मकथा' और 'डायरी' दो भिन्न विधाएँ हैं।

'यात्रावृत्त' यात्रा का विवरण देता है, आत्मानुभवों का नहीं। 'आत्म' का उसमें अभाव रहता है। साथ ही यह वृत्तांत महज कुछ दिनों अर्थात् निश्चित अवधि का होता है। अतः 'यात्रावृत्त' आत्मकथा से पृथक है।

'रिपोर्ताज' किसी घटना या वस्तु का आँखों देखा ब्यौरा होता है। उसमें कल्पना का पर्याप्त स्थान होता है। इस दृष्टि से आत्मकथा और रिपोर्ताज परस्पर भिन्न विधाएँ हैं। कल्पना के प्रयोग के कारण आत्मकथात्मक उपन्यास आत्मकथा से भिन्न होता है। लेखक को वहाँ मनमाना प्रयोग करने की छूट होती है, जबकि आत्मकथा में नहीं। इस दृष्टि से 'मैं' शैली में होने के बावजूद आत्मकथात्मक उपन्यास, आत्मकथा से भिन्न है। गद्य की इन नवीन विधाओं से समानता के बावजूद 'आत्मकथा' एक स्वतंत्र विधा है। आत्मकथा न तो किसी से संकोच करती है और न ही किसी को अस्पृश्य मानती है। वह तो बिना किसी भेदभाव के सभी से अपना रिश्ता कायम करती है। इस दृष्टि से "वह

सबसे ज्यादा लोकतांत्रिक विधा है। इसीलिए सबसे ज्यादा परिवर्तनकामी भी यही विधा है।"[17]

आत्मकथा के लेखन के लिए कोई अनिवार्य शर्त नहीं है कि फलां व्यक्ति ही आत्मकथा लिख सकता है। प्रत्येक व्यक्ति का जीवन दूसरे से पृथक और महत्त्वपूर्ण होता है। प्रेमचंद ने लिखा है - "मेरा ख्याल है कि मेरे घर के मेहतर के जीवन में भी कुछ ऐसे रहस्य हैं, जिनमें हमें प्रकाश मिल सकता है। किसी भी मनुष्य का जीवन इतना तुच्छ नहीं है, जिसमें बड़े-से-बड़े महच्चरितों के लिए भी कुछ-न-कुछ विचार की सामग्री न हो। महच्चरित इसी तरह बनते हैं।"[18]

इस दृष्टि से 'आत्मकथा' बेहद निजी जिंदगी से टकराकर एक आलोचनात्मक रवैया भी पैदा करती है। पाठक आत्मकथा में वर्णित जीवन सत्यों से अपना एक निष्कर्ष जरूर निकालता है। इस प्रकार आत्मकथा सत्य और अनुभवों से हमारा साक्षात्कार कराती है। जहाँ शर्म की परतें अपने-आप खुलती जाती हैं। न कोई पर्दा रहता है और न कोई झिझक। आत्मकथाकार एक बार फिर से जीवन को जीता है। उसके सामने कई समस्याएँ भी आती हैं – एक ओर तो वह रचनाकार है, दूसरी ओर रचना का मुख्य विषय भी। साथ ही वह एक सामाजिक प्राणी भी है। समाज, परिवार, साहित्य इन सबसे उसे अपनी भूमिका को प्रकट करना होता है, जिसके कारण उसे कई बार मानसिक तनाव का भी सामना करना पड़ता है। अपने से जुड़े अन्य लोगों के वर्णन में उसे कई बार संबंध-विच्छेद का भी सामना करना पड़ता है।

समय और समाज की दास्तान बयाँ करती 'आत्मकथा' आज कई दृष्टियों से प्रासंगिक और बेहद महत्त्वपूर्ण है। यह एक जीवन दृष्टि है, एक जीवन दर्शन है, अपनी आपबीती है और इन सब से बढ़कर एक अनुभव-संसार है। आज औद्योगीकरण के युग में मनुष्य मशीन की भाँति हो गया है। पर जब कभी उसे समय मिलता है, तो वह गुजरा वक्त अवश्य याद करता है। बीते पलों को याद कर वह भावुक हो जाता है। जगजीत सिंह की गायी हुई एक गजल है-

"ये दौलत भी ले लो,
ये शोहरत भी ले लो,
भले छीन लो मुझसे मेरी जवानी,
मगर मुझको लौटा दो बचपन का सावन,
वो कागज की किश्ती, वो बारिश का पानी...।"

आत्मकथा इसी गुजरे वक्त से साक्षात्कार कराती है।

¼[k½ vkRedFkk dh ijEijk vkj rÙo

vkRedFkk dh ijEijk

'आत्मकथा की परंपरा' पर विचार करने से पहले प्रश्न यह उठता है कि भारत में 'आत्मकथा' विधा का सूत्रपात इतने विलम्ब से क्यों हुआ ? आखिर वे कौन सी परिस्थितियाँ थीं, जिन्होंने आत्मप्रकाशन को आत्मश्लाघा माना ? क्या कारण है कि आत्मकथा मात्र से ही भारतीय मानस को विरक्ति रही है ? आत्मकथा को एक विदेशी विधा माना जाता है। भारत में इसका उदय बहुत बाद में हुआ। 'आत्मकथा' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग सन् 1796 में जर्मनी में हर्डर ने किया था। इसके बाद ब्रिटेन में सन् 1809 में रॉबर्ट साउथे ने इसका प्रयोग किया। भारत में आत्मगोपन की प्रवृत्ति के कारण 'आत्मकथा' का निरन्तर तिरस्कार किया जाता रहा और सदियों तक यह विधा उपेक्षित बनी रही।

भारत एक ऐसा देश है, जहाँ धर्म और अध्यात्म को प्रमुख माना गया है और जीवन को क्षणभंगुर मानकर 'आत्म' की निरन्तर उपेक्षा की जाती रही है। 'आत्म' की अभिव्यक्ति को यहाँ आत्मप्रशंसा मानकर निन्दनीय माना गया। 'परलोक' पर इतना अधिक ध्यान दिया गया कि 'लोक' का खयाल ही नहीं रहा। पारलौकिकता ही उनके लिए सबकुछ थी, ऐहिकता का तो खयाल मात्र ही समय का अपव्यय माना गया। ऐसे में, 'सभी मनुष्य बराबर हैं' का नारा देकर व्यक्ति विशेष की अभिव्यक्ति को एक अपराध की तरह देखा गया। ब्रह्म को सत्य मानकर जगत को मिथ्या कहकर मनुष्य के अस्तित्व को ही नश्वर माना गया। आत्मा चूँकि सभी मनुष्यों में समान है, अतः सभी का 'आत्म' भी एक है। फिर तो आत्म-अभिव्यक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। "वैयक्तिकता की जगह बहुवाचकता और व्यक्ति की जगह समूहगत भिन्नता हिंदू समाज की केन्द्रीय पहचान है।"[19] 'आत्मकथा' एक ऐसी विधा है, जिसमें आत्म की अभिव्यक्ति ही सर्वप्रमुख है। उसे विकसित और पनपने के लिए ऐसे परिवेश की आवश्यकता होती है, जहाँ वैयक्तिकता को पर्याप्त महत्त्व दिया गया हो। भारतीय संस्कृति चूँकि आत्म विसर्जन का पाठ पढ़ाती है, इसलिए यहाँ 'आत्मकथा' का प्रायः अभाव ही मिलता है। आत्मकथा के अभाव का एक अन्य कारण यह भी है -सच कहने का साहस प्रायः कम लोगों में ही मिलता है। "जहाँ जीवन की अश्लीलता को शालीनता की चादर से ढककर जीने को ही सभ्यता माना जाता है।"[20] वहाँ सच कहने की आदत कैसे होगी ? 'रहिमन निज मन की विथा, मन ही राखो गोय' कहना एक प्रकार से अपने सच पर पर्दा ही डालना है। भारतीय सभ्यता ने

वैयक्तिकता को तिरस्कृत मानकर उसकी अभिव्यक्ति के लिए अवकाश ही नहीं दिया। ऐसी परिस्थितियों में, जाहिर है कि आत्मकथा का विकास कैसे होता ? यहाँ यह बात महत्त्वपूर्ण है कि लोगों ने परंपरा को तो माना, किंतु परिवर्तन का तिरस्कार किया। यह नहीं सोचा कि आज हमारा जो रहन-सहन, जीवनशैली, आचार-व्यवहार है, क्या वही परंपरा में भी थे ? नहीं, फिर लीक पर चिपके रहना कहाँ तक न्यायसंगत है ? परिवर्तन ही संसार का नियम है। आज कई ऐसी चीजें हैं, जिन्हें हमने समय के साथ अपनाया है। सभ्यता के विकास के साथ ही कई चीजें हमारी संस्कृति में आत्मसात होती गईं। जब तक जीवन है, मनुष्य इस संसार से प्रभावित होता रहेगा। यदि हमने परिवर्तन को न स्वीकार किया होता, तो आज भी उसी आदिम अवस्था में होते। जिस समाज में 'आत्मकथा' को 'जीवनसत्य' का बाधक माना जाता हो ऐसी परिस्थितियों में आत्मकथा का विकास कैसे हो सकता था ? आत्म की यही उपेक्षा, रचनाकारों को अनाम रहने के लिए विवश करती है। "अनामता सत्य की सुसंगति में है और यह हिंदू संस्कृति की सबसे गौरवपूर्ण विशिष्टताओं में से एक है।"[21] आत्मकथा की संस्कृति के अभाव का एक कारण आत्मप्रतिष्ठा के प्रति निरन्तर भय की स्थिति होना और सबकुछ को सार्वजनिक न कर पाने के साहस का अभाव भी है। क्योंकि पूर्ण सत्य आत्मकथा की पहली शर्त है। निजी प्रंसगों को कहने में नैतिक साहस का अभाव आदि चीजें कुल-मिलाकर 'आत्मकथा' के प्रति एक हेय दृष्टि पैदा करती रहीं।

'आत्मकथा' को आत्म की अभिव्यक्ति मानकर इस ओर ध्यान देना उचित ही नहीं समझा गया कि 'आत्मकथा' आत्म की कथा के बहाने समय और समाज की भी कहानी है। आखिर व्यक्ति को समय, समाज, देश और साथ ही तत्कालीन परिस्थितियों से बिलगाकर कैसे देखा जा सकता है ? वहाँ तेरा-मेरा न होकर सब आपस में घुल-मिल जाता है। तब फिर 'आत्मकथा' को व्यक्ति विशेष तक सीमित रखकर उसे परिभाषित करना एक प्रकार से उसकी सार्थकता और महत्त्व की उपेक्षा ही है।

हिंदी की पहली आत्मकथा सन् 1641 में रचित बनारसीदास जैन की 'अर्द्धकथानक' है। इससे पूर्व संस्कृत-पालि-प्राकृत और अपभ्रंश में कुछेक आत्मकथात्मक उक्तियाँ अवश्य मिलती हैं। जिससे स्पष्ट होता है कि हमारी संस्कृति में आत्मप्रकाशन की प्रवृत्ति की उपेक्षा होने के बावजूद स्वयं को अभिव्यक्त करने की नैसर्गिक चाह अवश्य विद्यमान थी। मनुस्मृति में मनु ने आत्मा को साक्षी बताते हुए आत्मचिंतन पर बल दिया है। कठोपनिषद् में भी आत्मनिरीक्षण की ओर ध्यान दिया गया है। गीता में व्यक्ति के

आत्मा की उद्धार करने की बात की गई है। भवभूति, बाण, श्रीहर्ष, विल्हण आदि ने भी अपनी रचनाओं में चरितनायक के चित्रण के साथ स्वयं का भी परिचय दिया है। 'हर्षचरित' के रचनाकार बाणभट्ट ने अपनी रचना में अपने बचपन, विद्यार्थी जीवन और युवावस्था का वर्णन किया है। 'विक्रमांकदेवचरित' में विल्हण ने अपनी शिक्षा, अपनी जन्मभूमि आदि का वर्णन किया है। दण्डी ने भी 'अवन्तिसुन्दरिकथा' में अपना तथा अपने पूर्वजों का विवरण दिया है। संस्कृत के अलावा पालि और अपभ्रंश भाषाओं के जैन और बौद्ध साहित्य में भगवान बुद्ध, महावीर स्वामी और अनेक भिक्षु-भिक्षुणिओं के आत्मचरित मिलते हैं। आत्मकथा विधा के विकास में इन बीजांकुरों का अपूर्व योगदान रहा है। हाँ, यह अवश्य है कि आज आत्मकथा विधा का जो स्वरूप है, उसकी तुलना में यह योगदान महत्तर तो नहीं है, लेकिन नगण्य भी नहीं।

यदि हम 'आदिकाल' की बात करें, तो आदिकाल में मिलने वाले रासो ग्रंथों में यद्यपि राजाओं के शौर्य, पराक्रम के वर्णन की ओर अधिक ध्यान दिया गया है, फिर भी आत्मपरिचय के थोड़े बहुत संकेत मिल ही जाते हैं। चंदबरदाई ने 'पृथ्वीराजरासो' में अपने जीवन का थोड़ा परिचय दिया है, जो आत्मपरिचय की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। जैनों और बौद्धों की 'थेर' और 'थेरी' गाथाओं में भी भिक्षु-भिक्षुणियों ने अपनी आध्यात्मिक उन्नति का वर्णन किया है। यद्यपि जीवन के अन्य प्रसंग उनसे छूट जाते हैं, फिर भी अपने विषय में कहने की प्रवृत्ति की दृष्टि से ये ग्रंथ बेहद महत्त्वपूर्ण हैं। क्योंकि जहाँ मैं को एकदम नकारा जा सकता था, वहाँ 'मैं' की ओर ध्यान देने के महत्त्व को कैसे नगण्य माना जा सकता है ? जैन ग्रंथो- पुष्पदंत के 'जसकुमार चरिउ', स्वयंभू के 'पउमचरिउ' में कवियों ने अपने वंश आदि का परिचय दिया है।

भक्तिकाल में धार्मिक प्रवृत्ति प्रमुख थी। जनता में ऐहिक जीवन के प्रति इतनी निराशा आ गई थी कि आत्मचरित लिखने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। कवियों के लिए ईश्वर की आराधना ही प्रमुख थी। इस कारण रचनाओं में स्वयं को स्थान देने की ओर उनका ध्यान न था। यह सही है कि इन कवियों ने अपने विषय में सीधे-सीधे कुछ नहीं कहा, लेकिन इनकी कविता में उनके माता-पिता, संबंधियों, पत्नी, व्यक्तिगत निराशा, हताशा का उल्लेख अवश्य मिलता है। मीरा, कबीर, तुलसीदास, नरसी मेहता, चैतन्य की कविताएँ एक प्रकार से उनके आंशिक आत्म से हमारा परिचय कराती हैं। एक ओर जहाँ हिंदी साहित्य में परिचय के थोड़े बहुत अंश मात्र उपलब्ध होते हैं, वहीं भारत में ही तुर्की-फारसी में आत्मकथात्मक साहित्य मिलने लगता है। बाबर, हुमायूँ, अकबर, जहाँगीर,

शाहजहाँ के आत्मचरित हमें मिलने लगते हैं। इन आत्मचरितों में स्वयं के परिचय के साथ इतिहास, राजनीति आदि का भी चित्रण किया गया है।

रीतिकाल में कल्पना का इतना अधिक प्रयोग किया गया कि आत्मकथा लेखन संभव न हो सका। फिर भी आत्म की ओर संकेत करती हुई थोड़ी बहुत पंक्तियाँ अवश्य मिल जाती हैं। भिखारीदास ने 'काव्यनिर्णय' तथा 'छन्दोर्णव पिंगल' में अपने वंश आदि का परिचय दिया है। बिहारी ने भी अपना तथा अपने वंश का थोड़ा बहुत परिचय दिया है।

इन सभी परिस्थितियों के बीच सन् 1641 में रचित बनारसीदास जैन की आत्मकथा 'अर्द्धकथानक' अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इस आत्मकथा में लेखक ने स्वयं को समस्त गुण-दोषों के साथ पूरी सच्चाई से प्रकट किया है। यही गुण 'आत्मकथा' के लिए अत्यन्त आवश्यक है। एक सामान्य व्यापारी के जीवन का अनुमान हम 'अर्द्धकथानक' पढ़कर लगा सकते हैं। बनारसीदास ने जीवन के 55वें वर्ष में आत्मकथा लिखी थी। इसी कारण उन्होंने इसे 'अर्द्धकथानक' नाम दिया। जैन परम्परा के अनुसार व्यक्ति की उम्र 110 साल मानी गयी है। अपनी आत्मकथा के माध्यम से बनारसीदास ने अपने जीवन को तत्कालीन परिवेश के साथ उभारा है। तत्कालीन धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियाँ भी आत्मकथा में जीवंत हो उठी हैं। इस आत्मकथा में लेखक ने अपने चारित्रिक स्खलनों को पूरी सच्चाई के साथ प्रकट किया है। अपनी इश्कबाजी और उससे उत्पन्न रोगों के वर्णन में भी लेखक ने संकोच नहीं किया है। अपनी अच्छाइयों और बुराइयों को पूरी ईमानदारी के साथ प्रस्तुत कर देना ही 'अर्द्धकथानक' का उद्देश्य है। यह आत्मकथा पद्यात्मक है, जिसमें कुल 75 पृष्ठ और 675 दोहे-चौपाइयाँ हैं। आत्मकथा में ब्रज और खड़ी बोली का मिश्रण है। तत्कालीन सामंतशाही का जीवंत चित्र 'अर्द्धकथानक' में अपनी सजीवता के साथ मौजूद है। इन सब के बावजूद इस आत्मकथा में जीवन, समाज आदि का चित्र तो मिलता है, लेकिन स्थूल रूप में। उसका सूक्ष्म चित्रण शायद लेखक द्वारा संभव न हो सका। एक प्रकार से 'अर्द्धकथानक' में संप्रेषणीयता तो मिलती है, लेकिन अंतरंग संप्रेषणीयता का नितान्त अभाव है। आत्मकथा के आरंभ में लेखक हृदय की सम्पूर्ण सच्चाइयों को उजागर करने की बात करता है। वास्तव में यह साहस वह न कर सका। जिन नौ चीजों को छिपाने की बात लेखक करता है, उनमें धनसम्पत्ति, स्त्री संसर्ग, उम्र आदि मुख्य हैं। यही कारण है कि "'अर्द्धकथानक' में जीवन का ढाँचा तो मिलता है, पर वह माँसल नहीं है।"[22] उस

आत्मकथा में यद्यपि बेलाग आत्म -स्वीकरण नहीं है, लेकिन 'आत्म' को केन्द्र में लाने के कारण यह महत्त्वपूर्ण है। लेखक ने यह आत्मकथा उस समय लिखी, जबकि उसके सामने इस विधा का कोई उदाहरण नहीं था। साहित्य को धर्म, नैतिकता, समाज-सुधार से अलगाकर उसे व्यक्तित्व-विश्लेषण से जोड़ने का काम करते हैं बनारसीदास जैन। "बनारसीदास के आत्मचरित में आधुनिक आत्मकथाओं जैसी गहरी आत्मीयता और पूर्णता नहीं है। वह स्वयं इस बात को जानते हैं। आत्मचरित के आखिर में उन्होंने लिखा भी है कि यह तो सिर्फ उनके जीवन की स्थूल रूपरेखा है, जिसमें उन्होंने अपनी जिन्दगी के कुछ ही ब्यौरे दिए हैं, जो उन्हें याद रह गए हैं।"[23]

एक ऐसे माहौल में, जबकि 'परिवर्तन' को लोग 'महापाप' की संज्ञा देकर चली आ रही परिपाटी पर चलना ही अपना परम दायित्व मान रहे थे। ऐसे में 'परलोक' से अलग 'लोक' की बात करना, 'भक्ति' से अलग 'निज शक्ति' की बात करना और इनसब से अलग अपने समय से आगे बढ़कर सोचने और करने की बात बनारसीदास जैन को हिंदी साहित्य महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करती है।

हिंदी आत्मकथाओं के विकास क्रम में जो दूसरी आत्मकथा आती है, वह है – 1875 में रचित महर्षि दयानंद सरस्वती की आत्मकथा, जिसके दो रूप हैं – एक आत्मकथित और दूसरा आत्मलिखित। लेकिन दोनों ही अपूर्ण हैं। 'स्वकथित आत्मचरित' स्वामी दयानंद के बचपन, शिक्षा-दीक्षा, विवाह, गृहत्याग, आध्यात्म ज्ञान आदि पर प्रकाश डालती है, तो 'स्वलिखित आत्मचरित' स्वामीजी के निडर, साहसी और दृढ़ इच्छा शक्ति वाले व्यक्तित्व की ओर संकेत करती है। यद्यपि यह आत्मकथा संक्षिप्त और अपूर्ण है, लेकिन आत्मविश्लेषण, सत्य के प्रकटीकरण, यथार्थ वर्णन के कारण हिंदी साहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। आदिकाल से लेकर आधुनिक काल के प्रारंभ तक हिंदी साहित्य में केवल दो आत्मकथाएँ प्राप्त होती हैं। वहीं हिंदीतर भाषाओं में प्राप्त आत्मकथाएँ हैं – 'तुजक -ए-तीमूर' (तीमूर), 'जिक्रे मीर' (महाकवि मीर), 'एक आत्मकथा' (मुंशी लुत्फुल्ला), जो बाद में हिंदी में अनूदित हुई।

हिंदी में आत्मकथा लेखन की व्यवस्थित शुरुआत 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुई। हिंदी साहित्य के अन्य गद्य रूपों की भांति आत्मकथा लेखन को भी भारतेन्दु युग में पनपने का अवसर मिला। भारतेन्दुयुगीन आत्मकथाओं में 'एक कहानी : कुछ आपबीती कुछ जगबीती' (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र) का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कुछ ही पृष्ठों में लिखी यह

आत्मकथा अपने साथ ही तत्कालीन वातावरण की भी बात करती है। आत्मकथा 'निज' के साथ ही 'पर' का भी आख्यान है। भारतेन्दु की यह आत्मकथा इसी 'निज' और 'पर' का सम्मिलित रूप है।

भारतेन्दु मण्डल के अन्य लेखकों ने भी अपने जीवन वृत्तांत लिखे हैं। इस युग में लिखी गई अन्य आत्मकथाएँ हैं – 'निजवृत्तांत' (1901ई.) – अम्बिकादत्त व्यास, 'मुझ में दैव–जीवन का विकास' (1909ई.) – सत्यानन्द अग्निहोत्री, 'आपबीती' (काले पानी की कारावास कहानी, (1921ई.) – भाई परमानन्द, 'भारतीय देशभक्तों की कारावास कहानी' (1921ई.) – भवानी दयाल सन्यासी, 'कल्याण मार्ग का पथिक' (1924ई.) – स्वामी लाजपत राय, 'मेरे जीवन के कुछ पृष्ठ' (1926ई.) – आचार्य रामदेव, 'आत्मकथा' (1927ई. ) – रामप्रसाद बिस्मिल। इनके अतिरिक्त इस काल की लघु तथा खण्ड आत्मकथाएँ हैं- 'राधाचरण गोस्वामी का जीवन चरित' (1905ई.) – राधाचरण गोस्वामी, 'आत्मकथात्मक निबंध' (1913ई.) – बालमुकुन्द गुप्त, 'पद्यों में जीवन' (1914ई.) – जगननाथदास 'रत्नाकर', 'स्वजीवनी' (1927ई.) – श्रीधर पाठक, 'मेरे जीवन की प्राथमिक स्मृतियाँ' (1929ई.) – इलाचंद जोशी।

आत्मकथा की विकास यात्रा में भारतेन्दु युग यदि उद्‌भव काल है, तो द्विवेदी युग पल्लवकाल। इस युग के प्रमुख आत्मकथाकार हैं - महावीर प्रसाद द्विवेदी (मेरी जीवन रेखा), श्रीधर पाठक (स्वजीवनी)। सियारामशरण गुप्त ने स्वतंत्र रूप से कोई आत्मकथा तो नहीं लिखी, लेकिन 'झूठा सच' नाम से प्रकाशित निबंध संग्रह में उन्होंने आत्मपरिचयात्मक अंश संकलित किया है, जैसे – बाल्यस्मृति आदि। 'अपने विषय में' नाम से मैथिलीशरण गुप्त ने भी आत्मकथा लिखी, लेकिन वह अपूर्ण है।

लेखन के विकास की दृष्टि से छायावादी युग का विशेष महत्त्व है। इस युग में बड़े पैमाने पर आत्मकथाएँ लिखी गईं। आत्मकथा विधा के इस विकास क्रम में सन् 1932 में प्रकाशित हंस पत्रिका के विशेष अंक 'आत्मकथांक' का अभूतपूर्व योगदान है, जिसका संपादन और संयोजन प्रेमचंद के द्वारा किया गया। हिंदी में आत्मकथा लेखन को एक सतत् धारा के रूप में विकसित करने का श्रेय 'हंस' के इसी अंक को जाता है। इसमें हिंदी के अनेक प्रसिद्ध कवियों-लेखकों ने आत्मकथापरक प्रसंग लिखे हैं। जिनकी संख्या कुल बत्तीस है। इससे पूर्व किसी भी पत्रिका में आत्मकथा से संबंधित इतनी सामग्री प्रकाशित नहीं हुई थी। हंस के 'आत्मकथांक' के पश्चात् आत्मकथा की संस्कृति का विकास करती हुई अनेक आत्मकथाएँ हमारे सामने आती हैं, जिनमें प्रमुख हैं - मेहता

लज्जाराम शर्मा की 'आपबीती' (1933 ई.), बाबू गुलाबराय की 'मेरी असफलताएँ' (1941 ई.), बाबू श्यामसुंदर दास की 'मेरी आत्मकहानी' (1941ई.), मूलचंद अग्रवाल की 'पत्रकार की आत्मकथा' (1943 ई.), राहुल सांकृत्यायन की 'मेरी जीवन यात्रा' (1946 ई.), डॉ. राजेन्द्र प्रसाद की 'आत्मकथा' (1947 ई.), भवानी दयाल सन्यासी की 'प्रवासी की आत्मकथा' (1947 ई.)।

इसी समय अनूदित आत्मकथाएँ भी हिंदी में आती हैं, जिनमें प्रमुख हैं- महात्मा गाँधी की 'सत्य के साथ मेरे प्रयोग' तथा जवाहरलाल नेहरू की 'मेरी कहानी'। इसके अतिरिक्त स्वामी विवेकानन्द, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी और शचीन्द्र सान्याल की आत्मकथाएँ भी अनूदित होकर हिंदी में आयीं।

नागरों की कुल परंपरा, उत्पत्ति और उनके सामाजिक आचार-विचार को अभिव्यक्त करती हुई मेहता लज्जाराम की आत्मकथा 'आपबीती' उनके व्यक्तित्व और तत्कालीन परिवेश का जीवंत चित्र प्रस्तुत करती है। व्यंग्य की शैली में लिखी गई गुलाबराय की आत्मकथा 'मेरी असफलताएँ' लेखक के आत्मालोचन की प्रवृत्ति को हमारे सामने रखती हुई उसके व्यक्तित्व का वास्तविक दर्शन कराती है। लेखक का अपनी असफलताओं पर हँसना उसकी आत्म-ईमानदारी को स्पष्ट करता है। हिंदी भाषा और साहित्य के एक पूरे युग को प्रतिफलित करती हुई बाबू श्यामसुन्दर दास की आत्मकथा 'मेरी आत्मकहानी' काशी नागरी प्रचारिणी सभा का इतिहास बतलाकर 'आत्मकथा' को एक नयी दृष्टि से देखने का प्रयास है। संस्था के साथ स्वयं के व्यक्तित्व को एकाकार कर उसकी उन्नति को अपने जीवन का लक्ष्य मानकर चलने की कोशिश श्यामसुन्दर दास को हिंदी साहित्य में विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान करती है। उनकी यह आत्मकथा इसी कोशिश की अभिव्यक्ति है। 'पत्रकार की आत्मकथा' मूलचंद अग्रवाल के व्यक्तित्व के साथ विशेष रूप से उनके पत्रकारिता संबंधी अनुभवों को हमारे सामने रखती है। पांच खण्डों में लिखी गई राहुल सांकृत्यायन की आत्मकथा 'मेरी जीवन यात्रा' लेखक के व्यक्तित्व और सामाजिक इतिहास का सम्मिलित रूप है। जीवन के अनुभवों को बयाँ करती यह आत्मकथा समय और समाज का जीवंत चित्र भी प्रस्तुत करती है। एक प्रकार से यह आत्मकथा लेखक की जीवनयात्रा है। जिस देश की यात्रा लेखक ने की, वहाँ के निवासियों की वेशभूषा, रीति-रिवाज, भाषा, प्रकृति एवं उस देश के इतिहास आदि का विस्तृत वर्णन लेखक ने किया है। जीवन के 63 वर्षों को चित्रित करती हुई यह आत्मकथा राहुल सांकृत्यायन के विशिष्ट व्यक्तित्व को हमारे सामने रखती है।

किसी राजनीतिज्ञ द्वारा लिखी गई हिंदी की प्रथम आत्मकथा राजेन्द्र प्रसाद की 'आत्मकथा' है। 'आत्मकथा' लेखक के व्यक्तिगत जीवन के साथ ही राष्ट्र की स्वतंत्रता का इतिहास भी प्रस्तुत करती है। 'आत्मकथा' एक निजी प्रस्तुतीकरण के साथ ही सार्वजनिक दस्तावेज भी है। 'आत्मकथा' राजेन्द्र प्रसाद के बाल्यकाल के बिहार के सामाजिक रीति-रिवाजों का, संकुचित प्रथाओं से होने वाली हानियों का, उस समय के ग्रामजीवन का, धार्मिक व्रतों, उत्सवों और त्यौहारों का, उस जमाने के बच्चों के जीवन का और उस समय की शिक्षा की स्थिति का हू-ब-हू चित्र प्रस्तुत करती है।"[24] हिंदू-मुसलमान के बीच प्रेम, सौहार्द्र का जो चित्र 'आत्मकथा' में उपस्थित है, वह आज कई दृष्टियों से प्रासंगिक ही नहीं, आवश्यक भी है।

भवानी दयाल सन्यासी की आत्मकथा 'प्रवासी की आत्मकथा' प्रवासी भारतीयों की स्थिति के इतिहास को हमारे सामने रखती है।

'सत्य के साथ मेरे प्रयोग' महात्मा गाँधी की गुजराती में लिखी आत्मकथा है, जिसका हिंदी अनुवाद महावीर प्रसाद पोद्दार ने किया है। आत्मकथा में महात्मा गाँधी ने लिखा है – "आत्मकथा के बहाने सत्य के जो अनेक प्रयोग मैंने किए हैं, उनकी कथा लिखनी है।"[25]

आत्मकथा-लेखन के लिए आत्म के प्रति जिस तटस्थता की आवश्यकता होती है, 'सत्य के साथ मेरे प्रयोग' में वह पूरी तरह से मौजूद है। महात्मा गाँधी की यह आत्मकथा आत्मदर्शन के साथ ही 'आत्म' को निरन्तर उन्नतशील बनाने का भी प्रयत्न करती है। यह आत्मकथा 'आत्म' के माध्यम से मनुष्य की उन्नति, एकता और उत्थान का भी प्रयत्न करती है। शुद्धतावाद को सर्वोच्च मूल्य मानने वाले इस समाज में महात्मा गाँधी की यह आत्मकथा जीवन-सत्य से हमारा साक्षात्कार कराती है। आत्मकथा लेखन के आत्म-केन्द्रित और अहम्मन्यपूर्ण पाश्चात्य ढंग से हटकर गाँधी जी ने आत्मकथा लेखन की भारतीय संकल्पना को प्रस्तुत किया। 'सत्य के साथ मेरे प्रयोग' आत्मकथा की संस्कृति का न केवल विकास करती है, बल्कि उसका भारतीयकरण कर परम्परा का एक नवीन रूप भी हमारे सामने रखती है। पंकज चतुर्वेदी ने ठीक ही लिखा है – "हिंदी साहित्य में अभी आत्मकथा की जो संस्कृति व्यापक तौर पर विकसित की जानी है, उसके लिए गाँधी द्वारा जिए और शब्दबद्ध किए गए मूल्यों की प्रासंगिकता अपरिहार्य है।"[26] इन सभी दृष्टियों से महात्मा गाँधी की यह आत्मकथा न केवल सत्य के साथ प्रयोग है, बल्कि

आत्म-अभिव्यक्ति के साथ भी एक नवीन प्रयोग है। 'मेरी कहानी' स्वतंत्र भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू द्वारा लिखी गई आत्मकथा है। यह आत्मकथा मूलरूप से अंग्रेजी में 'माई स्टोरी' नाम से लिखी गई जिसका हिंदी में अनुवाद हरिभाऊ उपाध्याय ने किया है। पं. नेहरू की यह आत्मकथा मात्र आत्म की कहानी ही नहीं, बल्कि समकालीन व्यक्तियों, घटनाओं का जीवन्त इतिहास भी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पहले जहाँ 'आत्माभिव्यक्ति' को 'आत्मप्रशंसा' मानकर हेय माना जाता था, वहीं अब आत्म-स्वीकार के साथ 'आत्म' का प्रत्यक्ष अंकन साहित्य में मिलने लगा है। व्यक्ति की समस्याएँ, उसकी आकांक्षाएँ अब साहित्य में प्रमुख रूप से अंकित होने लगी। मात्र साहित्यकार ही नहीं, राजनीतिज्ञ, पत्रकार, समाज-सेवक, शिक्षक आदि भी आत्मकथा-लेखन की ओर प्रवृत्त हुए। अभिजात-चेतना से मुक्त होकर आत्मकथा जन-सामान्य से जुड़कर लोकतंत्रीकरण की बात करने लगती है। आत्मकथा के इसी विकास क्रम में 'मेरी कहानी' के बाद जिन महत्त्वपूर्ण आत्मकथाओं के नाम आते हैं, वे हैं- वियोगी हरि की 'मेरा जीवन प्रवाह' (1948 ई.), सेठ गोविन्द दास की 'आत्मनिरीक्षण' (तीन भाग, 1958 ई.), पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' की 'अपनी खबर' (1960 ई.), आचार्य चतुरसेन शास्त्री की 'मेरी आत्मकहानी' (1963 ई.), हरिवंशराय बच्चन की – 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' (1969 ई.), 'नीड़ का निर्माण फिर' (1970 ई.), 'बसेरे से दूर' (1978 ई.), 'दशद्वार से सोपान तक' (1985 ई.), डॉ. देवराज उपाध्याय की 'यौवन के द्वार पर' (1970 ई.), वृन्दावन लाल वर्मा की 'अपनी कहानी' (1970 ई.), रामविलास शर्मा की 'घर की बात' (1983 ई.), यशपाल जैन की 'मेरी जीवन धारा' (1987 ई.), अमृतलाल नागर की 'टुकड़े-टुकड़े दास्तान' (1986 ई.), डॉ. नगेन्द्र की 'अर्धकथा' (1988 ई.), शांतिप्रिय द्विवेदी की 'परिव्राजक की कथा' (1952 ई.), देवेन्द्र सत्यार्थी की 'चांद-सूरज के बीरन' (1953 ई. ), सुमित्रानन्दन पन्त की 'साठ वर्ष : एक रेखांकन' (1960 ई.), यशपाल की 'सिंहावलोकन' (1951-55), आचार्य चतुरसेन शास्त्री की 'यादों की परछाइयाँ' (1956 ई.) तथा 'मेरी आत्मकहानी' (1963 ई.), देवराज उपाध्याय की 'बचपन के दो दिन' (1958 ई.) तथा 'यौवन के द्वार पर' (1970 ई.), पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की 'मेरी अपनी कथा' (1969 ई.), हंसराज रहबर की 'मेरे सात जनम' (तीन भाग, 1985-89), शिवपूजन सहाय की 'मेरा जीवन' (1985 ई.), यशपाल जैन की 'मेरी जीवनधारा' (1984 ई.), फणीश्वरनाथ रेणु की 'आत्मपरिचय' (1988 ई.), कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर की 'तपती पगडंडियों पर पद यात्रा' (1989 ई.) कमलेश्वर की 'जो मैंने जिया' (प्रथम भाग, 1992 ई.), 'यादों का चिराग'

(दूसरा भाग 1997 ई.) और 'जलती हुई नदी' (तीसरा भाग 1999 ई.), गोपाल प्रसाद व्यास की 'कहो व्यास कैसे कटी' (1999 ई.), रवीन्द्र कालिया की 'गालिब छुटी शराब' (2000 ई.), नामवर सिंह की 'जीवन क्या जिया' (तद्भव में 2000 ई. में प्रकाशित), भगवतीचरण वर्मा की 'कहि न जाए का कहिए' (2001 ई.), राजेन्द्र यादव की 'मुड़-मुड़ के देखता हूँ' (2001 ई.), भीष्म साहनी की 'आज के अतीत' (2003 ई.), अशोक वाजपेयी की 'पावभर जीरे में ब्रह्म भोज' (2003 ई.), विष्णु प्रभाकर की 'पंखहीन', 'मुक्तगगन में' और 'पंछी उड़ गया' (2004 ई.) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

"हिंदी के आत्मकथा-साहित्य में पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' की 'अपनी खबर' तीखी आत्मालोचना, समाज में व्याप्त पाखण्ड के प्रति निर्मम यथार्थ दृष्टि और गहरी चोट पहुँचाने वाली सशक्त तथा मार्मिक भाषा के चलते एक बेजोड़ और मूल्यवान कृति है"।[27] पाठकों से अंतरंग मुलाकात करती हुई 'अपनी खबर' समर्पण के विरुद्ध संघर्ष का आख्यान बनकर हमारे सामने आती है। आत्मकथा के माध्यम से उग्र अपनी खबर तो लेते ही हैं, साथ ही दूसरों की खबर भी देते हैं। 'अपनी खबर' सत्यता के पैमाने पर कसी हुई एक ऐसी आत्मकथा के रूप में हमारे सामने आती है, जहाँ 'मेरा और ममेतर' का द्वंद्व मिट गया है। समाज में व्याप्त विसंगतियों की ओर इशारा करती हुई यह आत्मकथा समाज की नग्न सच्चाई को उजागर करती है। 'अपनी खबर' में उग्र ने लिखा है – "सच्चा धर्म क्या है ? – सत्य के लिए मर मिटना, भय से अपनी आत्मा का अपमान न करना तथा सब पर दया रखना।"[28]

उग्र के जीवन-संघर्ष को दिखाती हुई यह आत्मकथा उन के उस प्रयत्न को भी दिखाती है, जहाँ वह संघर्ष के माध्यम से सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं, द्वंद्वों से भरे हुए जीवन में आशा की किरण खोजते हैं। अपने साथ-साथ दूसरों के बारे में भी सच कहने का साहस उन्हें इस भय से विचलित नहीं होने देता कि सत्य कहना उनके जीवन को और अधिक कठिन बना सकता है। उग्र 'अपनी खबर' में अपने जीवन के आरंभिक बीस वर्षों को ही मुख्य रूप से दिखाते हैं, शेष वर्षों का तो वह मात्र परिचय भर देते हैं। क्योंकि उग्र 'आत्मकथा' को एक ऐसे जीवन की अभिव्यक्ति का माध्यम मानते हैं, जहाँ संघर्ष हो, दुख हो, अभाव हो, साथ ही इन स्थितियों से उभरने की एक छटपटाहट हो। उग्र के ये बीस वर्ष इसी बेचैनी, अभाव से संघर्ष करते हुए उससे मुक्ति की आकांक्षा से भरे हुए थे। अपने सगे भाई के आचरणों, उसके क्रूरतापूर्ण रवैये और उसकी वेश्यावृत्ति की आदत को भी उग्रजी बिना किसी हिचकिचाहट के व्यक्त कर देते हैं।

चार खण्डों में प्रकाशित हरिवंशराय बच्चन की आत्मकथा एक प्रकार से लेखक की स्मृति-यात्रा है। 'क्या भूलूँ क्या-याद करूँ' (प्रथम भाग) में लेखक ने 1936 ई. तक की घटनाओं का वर्णन किया है। आत्मकथा के इस भाग में लेखक ने अपने कुल, परिवेश, शैशव तथा नवयौवन का वर्णन किया है। कहीं कर्कल, चम्पा प्रसंग है, तो कहीं श्रीकृष्ण-प्रकाशो प्रसंग। आत्मकथा का दूसरा भाग 'नीड़ का निर्माण फिर' युवावस्था के संघर्ष के बाद जीवन और साथ ही साहित्य में स्वयं को पुनर्स्थापित करने के प्रयत्नों की कहानी है। श्यामा की मृत्यु को लेखक अपने ऊपर हावी नहीं होने देता। आत्मकथा का यह खण्ड हमें लेखक के दृढ़-संकल्पी, आशावादी व्यक्तित्व से हमारा परिचय कराता है। आत्मकथा के इसी भाग में बच्चन जी की तेजी से मुलाकात और शादी का भी वर्णन है। इसके साथ ही यह भाग लेखक के काव्य-सृजन पर भी प्रकाश डालता है। आत्मकथा के तीसरे भाग 'बसेरे से दूर' में लेखक के घर से दूर जाकर कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी में पीएच. डी. की उपाधि प्राप्त करने का वर्णन है। 'बसेरे से दूर' वास्तव में लेखक का संघर्षकाल है, जहाँ वह आर्थिक, शैक्षणिक और मानसिक संघर्ष का सामना करता है। आत्मकथा के चौथे भाग 'दशद्वार से सोपान तक' में लेखक के इलाहाबाद निवास 'दशद्वार' से लेकर गुलमोहर पार्क दिल्ली में बनाए गए मकान 'सोपान' में बसने तक का वर्णन है। हरिवंशराय बच्चन की आत्मकथा मात्र उनके जीवन की कथा ही नहीं कहती, बल्कि छायावाद के बाद की साहित्यिक परिस्थितियों से भी हमें रू-ब-रू कराती है।

यशपाल की आत्मकथा 'सिंहावलोकन' मात्र लेखक के जीवन का वृत्तांत न होकर तत्कालीन युग की राजनीतिक-स्थितियों का भी दस्तावेज है। आत्मकथा लेखक के क्रांतिकारी और संघर्षमय जीवन को हमारे सामने रखती है। एक प्रकार से यशपाल की यह आत्मकथा आत्म के साथ सशस्त्र क्रान्ति की कहानी का चित्रण है।

डॉ. नगेन्द्र की 'अर्धकथा' स्वयं लेखक के अनुसार जीवन के अर्धसत्य की अभिव्यक्ति है। लेखक ने इस आत्मकथा को तीन भागों में बाँटा है – व्यक्तिखण्ड, शैक्षिक जीवन और साहित्य यात्रा। रेणु की आत्मकथा 'आत्मपरिचय' में लेखक के जीवन और रचना-संघर्ष की अभिव्यक्ति है। 'गालिब छुटी शराब' रवीन्द्र कालिया की संस्मरणात्मक आत्मकथा है। जिसमें लेखक शराब के बहाने जीवन के उतार-चढ़ाव की कहानी कहता हैं। 'मुड़-मुड़ के देखता हूँ' राजेन्द्र यादव के जीवन के उन अंशों का संकलन है, जो लेखक को निरन्तर आगे बढ़ने की प्रेरणा और ताकत देते हैं। यहाँ अतीत, लेखक को भविष्य सँवारने की शक्ति देता है। 'आज के अतीत' भीष्म साहनी के रावलपिंडी से

दिल्ली बसने तक के जीवन संदर्भों के साथ ही उनके साहित्य-सृजन को भी हमारे सामने रखती है। 'पावभर जीरे में ब्रह्म भोज' अशोक वाजपेयी के व्यक्तित्व के विकास क्रम और लेखक के उन अनुभवों से हमारी अंतरंग मुलाकात कराती है, जिनके कारण लेखक के जीवन की सार्थकता है। यह आत्मकथा पाठक को नितान्त निजी अनुभवों का सहभागी बनाती है। 'पंखहीन' (2004 ई.), 'मुक्तगगन में' (2004 ई.) और 'पंछी उड़ गया' (2004 ई. ) नाम से तीन भागों में प्रकाशित विष्णु प्रभाकर की आत्मकथा लेखक के जीवन के उतार-चढ़ाव के साथ ही साहित्यिक परिवर्तनों को भी हमारे सामने रखती है।

आत्मकथा की संस्कृति में बदलाव लाने का कार्य करती हैं – स्त्री और दलितों की आत्मकथाएँ। आत्मकथा को 'मैं' की केन्द्रीयता से मुक्त कर ये आत्मकथाएँ आत्मकथा लेखन का एक नया मार्ग तलाशती हैं। ये आत्मकथाएँ मात्र आत्म की कथा न कहकर अपने समुदाय की कथा कहती हैं। समाज के अमानवीय रूप को सामने रखती हुईं, ये आत्मकथाएँ नग्न यथार्थ से हमारा साक्षात्कार कराती हैं। समाज की जिन व्यवस्थाओं पर अब तक पर्दा डालकर लोग अनदेखी का बहाना बनाकर ढँकने की कोशिश कर रहे थे, उन सारी सच्चाइयों का बेलाग और निर्भीक प्रस्तुतीकरण ये आत्मकथाएँ करती हैं। अपने हक की माँग करती हुई स्त्री और दलितों की ये आत्मकथाएँ व्यवस्था का विरोध तो करती ही हैं, साथ ही देश के संविधान की प्रस्तावना में कही गई 'समानता' की बात को भी बार-बार याद दिलाती हैं। कहने को तो देश आजाद हो गया, लेकिन क्या हमारी सोच आजाद हुई ? हमारा रवैया आजाद हुआ ? बात–बात पर स्त्री और दलित को अपमानित करने की बात आखिर किस कानून में लिखी है ? इसी प्रश्न के उत्तर की माँग करती हुई ये आत्मकथाएँ समाज को एक सार्थक दृष्टि और दिशा देने का काम करती हैं। अपनी अस्मिता, अपनी स्वाधीनता को तलाशती ये आत्मकथाएँ हमें सोचने पर मजबूर कर देती हैं। "वे व्यक्ति की नहीं, अस्मिता के लिए लड़ी गई सामाजिक लड़ाइयाँ हैं।"[29] यहाँ यातनाओं का प्रस्तुतीकरण है। स्त्री और दलित लेखन की अनिवार्य शर्त है – सच्चाई का ईमानदारी से प्रस्तुतीकरण। जीवन के सत्य को सामने रखकर वे समाज के बदलाव की आकांक्षा रखते हैं। बदलाव की उम्मीद ही प्रगति का सबसे बड़ा पैमाना है। बहुजन हिताय की बात करती हुई ये आत्मकथाएँ भोगे हुए सच का दस्तावेजीकरण हैं। बेलाग आत्म स्वीकरण इन आत्मकथाओं की रीढ़ है।

जीवन के सत्य को इस कदर उजागर करना कि शर्म की परतें अपने आप खुलती जाएँ, इसी दृष्टिकोण को लेकर ये आत्मकथाएँ हमारे सामने आती हैं। दलितों

और स्त्रियों के मुक्ति संघर्षों का प्रत्यक्ष गवाह बनकर ये आत्मकथाएँ सामाजिक प्रताड़नाओं से मुक्ति का रास्ता तलाशती हैं।

हिंदी की पहली दलित आत्मकथा है- मोहनदास नैमिशराय की 'अपने–अपने पिंजरे' (1995 ई.)। आत्मकथा में जीवन की वेदना के ऐसे चित्र उपस्थित होते हैं, जो हमें सोचने को मजबूर कर देते हैं। इस आत्मकथा में उत्तरप्रदेश के चमार जाति की अस्मिता के संकट को मुख्य रूप से उभारा गया है। लेखक ने इस जाति के बहाने दलितों के सामाजिक बहिष्कार को अभिव्यक्त किया है। जब समाज ने दलितों को मनुष्य ही नहीं समझा तो फिर अधिकार देने का प्रश्न कहाँ उठता है ? यह आत्मकथा इसी अधिकार की बात करती है। 'अपने-अपने पिंजरे' के बाद हिंदी साहित्य में अनेक दलित आत्मकथाएँ आईं। देखे, सुने और झेले हुए दंश को उजागर करने वाली ये आत्मकथाएँ हैं- ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन' (1997 ई.), सूरजपाल चौहान की 'तिरस्कृत' (2002 ई.) तथा 'संतप्त' (2006 ई.), दया पवार की 'अछूत', शरणकुमार लिंबाले की 'अक्करमाशी', कौशल्या बैसंत्री की 'दोहरा अभिशाप', तुलसीराम की 'मुर्दहिया', सुशीला टाकभौरे की 'शिकंजे का दर्द' (2011 ई.)।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा 'जूठन' दलित समाज का आईना बनकर हमारे सामने आती है। यह आत्मकथा समाज के उस सच से हमें रू-ब-रू कराती है, जो दलित को सेवक और दास मानकर उसे 'पाप की संतान' कहने में भी नहीं हिचकिचाता। गुलामी की हद तो तब हो जाती है, जब यह जाति जूठन खाने को मजबूर हो जाती है। अपना पेट भरकर, दलितों को टुकड़े-टुकड़े का मोहताज बना देना, यही नीति तो समाज अपनाए जा रहा है। यह आत्मकथा इसी नीति से मुक्ति की बात करती है।

यह आत्मकथा "सदियों से दबी कुचली आबादी को हीनता बोध से उबारने की कोशिश करती है। धार्मिक पाखण्ड व ईश्वरवाद में छिपी ब्राह्मणवादी विचारधारा की पहचान करवाती है तथा भूमि-संबंधों के बदलने में छुपे दलित मुक्ति के बीज को पहचानती है, जो संघर्ष के रास्ते को खोलती है। सवर्ण मानसिकता में दलितों के प्रति हिंसा, नफरत व पूर्वाग्रहों को उद्‌घाटित करती है।"[30]

सूरजपाल चौहान की आत्मकथा 'तिरस्कृत' समाज में व्याप्त भेदभाव, ऊँच-नीच, सदियों से चले आ रहे शोषण और तिरस्कार के घिनौने रूप को हमारे सामने रखती है। भूमिका में लेखक ने लिखा है – "मेरी नीयत किसी दलित जाति या वर्ग विशेष पर

कटाक्ष करना नहीं, बल्कि हिन्दुत्व की उस धारा पर कुठाराघात करना है, जिसमें हमारे ही दलित समाज के कुछ लोग बह रहे हैं।"[31] यह आत्मकथा दलित मुक्ति का दस्तावेज बनकर हमारे सामने आती है। दया पवार की आत्मकथा 'अछूत' सामाजिक और आर्थिक शोषण के विभिन्न रूपों को उजागर करती है। साथ ही दलित आंदोलन की सीमाओं और संभावनाओं को भी दर्शाती है। मानवेतर स्थितियों में रहने को बाध्य 'म्हारों' का जीवन्त चित्रण इस आत्मकथा में हमें देखने को मिलता है। समाज की यह कैसी व्यवस्था है कि दिन-रात काम करने वाला भूखा पेट सोए, उसे दो जून की रोटी भी मयस्सर न हो ? और सवर्ण कहलाने वाला यह समाज ऐश्वर्य-विलास में डूबा रहे ? दलितों के साथ पशुवत् व्यवहार करना आखिर न्याय की किस परिभाषा में लिखा है ? यदि दलितों को छूना 'पाप' है, तो उनके द्वारा किए श्रम पर आनन्द फरमाना 'पाप' क्यों नहीं ? इन्हीं सवालों के उत्तर की माँग यह आत्मकथा करती है। शरणकुमार लिंबाले की आत्मकथा 'अक्करमाशी' दलित जीवन की त्रासदी को हमारे सामने रखती है। ब्राह्मणवादी व्यवस्था की परत-दर-परत खोलती यह आत्मकथा दलितों के अधिकार और समाज में उन्हें स्थान दिलाने की बात करती है।

'दोहरा अभिशाप' शीर्षक ही कौशल्या बैसंत्री की समस्त जीवन-संवेदना को उजागर कर देता है। यह आत्मकथा शोषण के दोहरे रूप को उजागर करती है। एक तो स्त्री, दूसरे दलित। लेखिका कहीं स्त्री होने का अपमान झेलती है, तो कहीं दलित होने का दंश। दो मोर्चों पर घिरी स्त्री की बेबाक अभिव्यक्ति है– 'दोहरा-अभिशाप'। 2010 ई. में प्रकाशित तुलसीराम की आत्मकथा 'मुर्दहिया' दलित बस्ती की जिंदगी की दास्तान बनकर हमारे सामने आती है। दलित अस्मिता के सवालों को उठाती हुई 'मुर्दहिया' दलित मुक्ति को मानवीय मुक्ति से जोड़कर देखती है। आत्मकथाकार केवल दलित होने का ही दर्द नहीं सहता, बल्कि अपनी एक आँख के कारण भी निरन्तर मानसिक वेदना को सहता है। यह आत्मकथा सामाजिक प्रताड़नाओं के कई स्तरों का खुलासा करती है। 2011 ई. में प्रकाशित सुशीला टाकभौरे की आत्मकथा 'शिकंजे का दर्द' सदियों से बंधन में जकड़ी स्त्री को मुक्ति दिलाने का सार्थक प्रयास बनकर हमारे सामने आती है। भूमिका में वे लिखती हैं– "मेरी आत्मकथा मेरी वेदना का दस्तावेज है। इस वेदना-पीड़ा से छुटकारा तभी मिलेगा, जब समाज की मानसिकता बदलेगी, जब पूरी व्यवस्था बदलेगी।"[32] यह आत्मकथा शिकंजे में कसी हुई एक दलित स्त्री के शोषण, अपमान और साथ ही उसके अभाव भरे जीवन की व्यथा-कथा को भी प्रस्तुत करती है।

दलित आत्मकथाकारों की भाँति स्त्री आत्मकथाकारों ने भी 'आत्मकथा' को 'मैं' की केन्द्रीयता से मुक्त कर अपनी अस्मिता और अपनी स्वाधीनता की माँग से जोड़ा है। ये आत्मकथाएँ व्यक्तिवाद से मुक्त होकर व्यापक सामाजिकता का विस्तार करती हैं। साथ ही साथ प्रतिरोध की संस्कृति का भी निर्माण करती हैं। 'सरला एक विधवा की आत्मजीवनी' हिंदी की पहली स्त्री आत्मकथा है। इस आत्मकथा का प्रकाशन 'स्त्री दर्पण' पत्रिका के जुलाई 1915 से मार्च 1916 के अंकों में हुआ। इसकी लेखिका कोई सरला नाम की विधवा है। अन्य प्रमुख स्त्री आत्मकथाएँ हैं– प्रतिभा अग्रवाल की 'दस्तक जिन्दगी की' (1990 ई.) और 'मोड़ जिन्दगी का' (1996 ई.), कुसुम असंल की 'जो कहा नहीं गया' (1996 ई.), कृष्णा अग्निहोत्री की 'लगता नहीं है दिल मेरा' (1997 ई.) एवं 'और-और औरत' (2010 ई.), पद्मा सचदेव की 'बूँद बावड़ी' (1990 ई.), शीला झुनझुनवाला की 'कुछ कही कुछ अनकही' (2000 ई.) और 'गुड़िया भीतर गुड़िया' (2008 ई.), प्रभा खेतान की 'अन्या से अनन्या' (2007 ई.), मन्नू भण्डारी की 'एक कहानी यह भी' (2008 ई.), रमणिका गुप्ता की 'हादसे', चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की 'पिंजरे की मैना' (2008 ई.)। अन्य भारतीय भाषाओं से हिंदी में अनूदित आत्मकथाओं में मुख्य हैं – कमलादास की 'माई स्टोरी', नलिनी जमीला की 'एक सेक्स वर्कर की आत्मकथा', अमृता प्रीतम की 'रसीदी टिकट', तसलीमा नसरीन की 'मेरे बचपन के दिन', 'उत्ताल हवा', 'द्विखंडित', 'वे अंधेरे दिन', 'मुझे घर ले चलो' आदि।

'अर्द्धकथानक' से शुरू हुई आत्मकथा लेखन की यह यात्रा आज भी जारी है। पंकज चतुर्वेदी के शब्दों में कहें, तो - "जब हमारे समय में साम्प्रदायिक राष्ट्रवाद का बोलबाला बढ़ता जा रहा है, तब भारत के बहुसंख्यक जन समाज की तमाम यातनाओं की अनदेखी और उसकी अभिव्यक्ति की आजादी का अपहरण सर्वाधिक मूर्त होते हुए खतरे हैं। आत्मकथा लिखकर न सिर्फ इन दोनों आसन्न चुनौतियों का जवाब दिया जा सकता है, बल्कि एक बेहतर जीवन तथा समाज को रचने की सांस्कृतिक प्रक्रिया को भी तेज किया जा सकता है।"[33]

## vkRedFkk d rÙo

'आत्मकथा' वह आत्मचित्रण है, जिसमें अतीत का सिंहावलोकन कर वर्तमान को जिया जाता है और भविष्य को संवारा जाता है। आत्म का यह चित्रण कई शर्तों की माँग भी करता है। ''आत्मकथा' जीवन का सत्यान्वेषण है, कल्पना के आकाश की कोरी उड़ान नहीं।"[34] एक ओर जहाँ यह सत्यता और ईमानदारी की माँग करती है, वहीं दूसरी ओर

पूर्ण तटस्थता की भी। इस दृष्टि से आत्मकथा लेखन पूर्ण आत्म-स्वीकार के साहस की माँग करता है। 'आत्म' की प्रतिष्ठा का खयाल किए बिना स्वयं को एकदम उघाड़कर इस प्रकार रख देना कि पाठक को इसकी सत्यता पर संदेह न हो यही वह मूल्य है, जो 'आत्मकथा को जीवंतता प्रदान कर मूर्त रूप में ढाल देता है। एक ओर जहाँ आत्मकथा लेखन का रास्ता कठिनाइयों से भरा है, वहीं दूसरी ओर इसका पड़ाव अत्यन्त ही सुखद है। कुबेरनाथ राय ने ठीक ही लिखा है - ''आत्मकथा' साहस, भय और अंधकार के बीच संसार के वरूणालय के मध्य भटकती यात्रा का गति है, जिसके अंत में हाँफता-तिरता, बेसुध, थका नायक अरुणोदय का इन्तजार करता है, इसलिए कि उसकी दुख की रात का अवसान हो जाए।"[35] क्या कहें, क्या न कहें ? की दुविधा जहाँ आत्मकथा लेखन को कठिन बना देती है, वहीं औरों से मुलाकात का सीधा रास्ता तैयार कर यह अभिव्यक्ति का सीधा और सुगम मार्ग भी तैयार करती है।

आत्मकथा में चूँकि 'जीवन' होता है और जीवन जीने का कोई पूर्वनिर्धारित पैमाना नहीं होता। ठीक उसी भाँति 'आत्मकथा' किसी एक विन्यास के बंधन को स्वीकार न कर अपना मार्ग खुद तलाशती है। वह किसी भी शिल्प में हो सकती है। आत्मकथा के तत्त्वों की बात करें, तो पूर्वनिर्धारित तत्त्वों का ढाँचा 'आत्मकथा' पर लागू नहीं किया जा सकता। हाँ, कुछ तत्त्व ऐसे अवश्य हैं, जो आत्मकथा लेखन के लिए आवश्यक और महत्त्वपूर्ण हैं, जो जीवन जीने के क्रम में स्वयमेव ही आ जाते हैं। यही कारण है कि एक आत्मकथा, दूसरी आत्मकथा से अपना पृथक् अस्तित्व लिए होती है। जीवन में कब क्या घटित हो जाए, यह पूर्वनिर्धारित नहीं होता। 'आत्मकथा' उसी जीवन का पुनर्जन्म है, फिर उसे पूर्वनिर्धारित कैसे किया जा सकता है ? यह सच है कि 'आत्मकथा' किसी विन्यास-बंधन को स्वीकार नहीं करती, न ही तत्त्वों का परंपरागत ढाँचा इस विधा पर लागू होता है। फिर भी कुछ तत्त्व ऐसे अवश्य हैं, जो आत्मकथा लेखन के लिए महत्त्वपूर्ण ही नहीं, आवश्यक भी हैं। इन तत्त्वों का ध्यान रखकर 'आत्मकथा' को प्रभावी और सशक्त बनाया जा सकता है। ये तत्त्व हैं – आत्म तत्त्व, कथा तत्त्व, जीवन, तटस्थता, स्मृति, सत्यता, यथार्थता और ईमानदारी, देशकाल और वातावरण, भाषा और शैली, उद्देश्य, गहनता और पारदर्शिता।

### vkRe rÙo

आत्मकथा 'आत्म' की कथा है आत्म के इस चित्रण में लेखक को आत्मान्वेषण, आत्म-मंथन और आत्मालोचन की प्रक्रियाओं से गुजरना पड़ता है। आत्मकथा जीवन की

आलोचना होने के साथ ही 'आत्म' की भी आलोचना है। अपनी भूलों, कमियों को जानने के साथ ही यह जानना भी जरूरी होता है कि जीवन में अब तक क्या अर्जित किया गया ? सफलता के किस शीर्ष की प्राप्ति हुई और असफलता के क्या कारण थे ? आत्मकथा एक प्रकार से जीवन जीने का दोबारा मौका देती है।

'आत्म' का अन्वेषण करते हुए लेखक उन कारणों का भी खोज करता है, जिनसे उसका अस्तित्व है। अपने बीते हुए जीवन की अच्छाइयों-बुराइयों पर वह एक साथ दृष्टि डालता है। 'आत्म' के इस दर्शन में व्यक्ति कभी-कभी खुद पर ही रीझने लगता है, किन्तु आत्मकथाकार के लिए यह आवश्यक होता है कि वह स्वयं को 'आईने' के सामने इस प्रकार खड़ा कर दे कि 'आत्म' का सम्पूर्ण चित्र उभरकर सामने आ जाए। 'आत्म मोह' से मुक्त होकर आत्मकथाकार को अपने व्यक्तित्व के तमाम आयामों की खोज करनी होती है। आत्मकथा स्वयं को सार्वजनिक चौराहे पर खड़े करने जैसा है, फिर 'आत्म' की चिन्ता करना व्यर्थ है। पाठक आत्मकथाकार से यह उम्मीद करता है कि वह अपने व्यक्तित्व के सकारात्मक और नकारात्मक दोनों पहलुओं को उजागर करे। वह यह जानने के लिए उत्सुक रहता है कि आत्मकथाकार का जीवन कैसा था ? उसके जीवन के किन तत्त्वों को अपनाकर वह अपने जीवन को सार्थक और सफल बना सकता है ? इन सब दृष्टियों से आत्मकथाकार का 'आत्म' अन्य के लिए प्रेरक की भूमिका निभा सकता है। इस लिए 'आत्म' को अभिव्यक्त करने में लेखक को काफी हद तक सावधानी बरतनी पड़ती है। यह सच है कि जब हम किसी व्यक्ति की आत्मकथा पढ़ते हैं तो हम उसके सर्वसुलभ और पूर्वपरिचित रूप को जानने के लिए व्याकुल न होकर जीवन के उन अनुभवों को जानने के लिए अधिक व्याकुल होते हैं, जो अब तक सार्वजनिक रूप से खुलकर सामने नहीं आ पाए हैं। इस दृष्टि से 'आत्मकथा' व्यक्ति के अव्यक्त जीवन को व्यक्त करने की माँग करती है। "आत्म का तात्पर्य अपने संदर्भ में व्यक्ति के संचेतन अनुभवों, विचारों, चिंतन एवं भावनाओं की समग्रता से है।"[36] यहाँ किसी भी प्रकार का छल और गोपन स्वीकार्य नहीं।

व्यक्तिगत सच बोलना इतना आसान नहीं, तभी तो जयशंकर प्रसाद मौन रहकर खुद बोलने की बजाए दूसरों को सुनने की बात करते हैं -

"छोटे से जीवन की कैसे बड़ी कथाएँ आज कहूँ
क्या यह अच्छा नहीं कि औरों की सुनता मैं मौन रहूँ।"[37]

मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है - "आत्मकथाएँ प्रायः आत्म के बनने-बिगड़ने की आत्मकथाएँ होती हैं, उनमें स्वत्व की खोज और पहचान का आख्यान होता है। लेकिन ऐसी आत्मकथाएँ तभी महत्त्वपूर्ण होती हैं, जब उनमें आत्मविश्लेषण हो और अपने नैतिक द्वंद्वों-दुविधाओं और संदेहों की अभिव्यक्ति भी हो।"[38] वही आत्मकथाएँ महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं, जिनमें अपने जीवन की पोल खोलने की कोशिश की गई है। अतः 'आत्म' आत्मकथा का वह महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, जो जीवन को समझने की एक सार्थक दृष्टि देता है।

dFkk rÙo

'आत्मकथा' जीवन की कथा है। इसमें सामान्य कथा की भाँति कल्पना की उड़ान न होकर जीवन की वास्तविकता होती है। 'कथा तत्त्व' ही 'आत्मकथा' में रोचकता और कौतूहलता बनाए रखता है। 'कथा तत्त्व' का इस प्रकार से सुनियोजन, कि वह वर्ण्य-विषय को सुसम्बद्धता प्रदान करे, 'आत्मकथा' के लिए आवश्यक है। शिथिलता रचना के महत्त्व को घटाकर पाठक से उसका संवाद तोड़ देती है। यह कथा स्वयं आत्मकथाकार की होती है, अतः यह सत्यता, मौलिकता, स्वाभाविकता की माँग करने के साथ ही एकसूत्रता और शृंखलाबद्ध होने की भी माँग करती है। अति विस्तार, अति संक्षेप, बिखराव, आत्म-समर्थन, अथवा आत्म-दूरदर्शन की स्थिति 'आत्मकथा' के लिए घातक है।

thou

"आत्मकथा एक ऐसी विधा है, जिसे हर हाल में जीवन-वास्तव के अधीन रहना होता है।"[39] आत्मकथा का मुख्य विषय ही 'जीवन' होता है। प्रेमचंद द्वारा अपने आत्मविवरण को 'जीवनसर' नाम देना जीवन से आत्मकथा के इसी गहरे संबंध की ओर संकेत करता है। आत्मकथा में वर्णित जीवनधारा लेखक के अपने बचपन, परिवार, युवाकाल, गृहस्थ जीवन से होते हुए लेखक की वर्तमान स्थिति को हमारे सामने रखती है।

वास्तव में 'जीवन' ही एक आत्मकथा को दूसरी आत्मकथा से अलगाता है क्योंकि प्रत्येक लेखक के जीवन जीने के अपने तरीके होते हैं। एक प्रकार से आत्मकथा एक ऐसा गवाक्ष है, जिसके द्वारा पाठक आत्मकथाकार के निजी जीवन में ताक-झाँक करता है। आत्मकथा जीवन जीने की कला सिखाती है। आत्मकथा में जीवन तत्व की इसी महत्ता को उजागर करते हुए वियोगी हरि आत्मकथा को 'जीवनानुभूतियों की अभिव्यंजना'

कहते हैं, तो हरिवंशराय बच्चन 'जीवन की तस्वीर'। 'आत्मकथा' लेखक की कलागत कुशलता से आगे बढ़कर लेखक के जीवन-संघर्ष में निहित मानवीय-सार्थकता की माँग करती है। 'जीवन' भी ऐसा, जो निश्छल मनुष्यता का संदेश देता हो। कुछ ऐसा जीवन, जो परिवर्तन कामी हो, व्यक्ति के साथ-साथ समाज को भी बदलने की क्षमता रखता हो। अपनी हार में भी विजय पताका लहराने वाला जीवन, अपनी जीत में भी न फूलने वाला जीवन और दुख में भी घबराने के बजाए सतत् प्रयासरत रहने वाला जीवन, जीने को चुनौती की तरह लेने वाला जीवन, कुछ ऐसे ही जीवन की माँग करती है 'आत्मकथा'। इन अर्थों में 'आत्मकथा' जीवन जीने का प्रशिक्षण देती है।

### rVLFkrk

आत्मकथा जिन्दगी का आलोचनात्मक दस्तावेज है, जिसके लिए यह आवश्यक है कि पैनी निगाह के साथ आत्मकथाकार स्वयं का मूल्यांकन करे। 'आत्म' को स्वयं से अलग कर वह उसके साथ एक दूरी कायम करे। आत्मकथा के लिए आवश्यक है कि लेखक 'आत्म' के प्रति भी एक प्रतिक्रियावादी रवैया पैदा करे। आत्मकथा के लिए आत्ममुग्धता, आत्मश्लाघा नहीं, आत्मनिर्मम आलोचना की आवश्कता होती है। 'ममता' या 'संकोच' के भाव को त्यागकर 'आत्म' का इस प्रकार से चित्रण कि वास्तविकता अपने आप उजागर हो जाए, यही भाव 'आत्मकथा' के लिए आवश्यक है। आत्म पर मुग्ध होते हुए खुद को सही साबित करने और अपनी सफाई देने के उद्देश्य से लिखी गई आत्मकथाएँ वास्तव में आत्मकथा ने होकर कोरा आख्यान भर रह जाती हैं।

### Lefr

आत्मकथा में स्मृति ही वह माध्यम है, जो जीवन की पुनर्निर्मिति करती है। स्मृति के सहारे ही जीवन एक बार फिर से हमारे सामने आता है। गार्सिया मार्खेज ने ठीक ही लिखा है "आत्मकथा में जीवन वह नहीं होता, जिसे लेखक जी चुका होता है बल्कि वह होता है, जिसे वह याद करता है।"[40] कभी स्मृति घटनाओं का आविष्कार करती है, तो कभी सरलीकरण। आत्मकथा एक प्रकार से विस्मृति के विरुद्ध स्मृति का संघर्ष है। स्मृति ही आत्मकथाकार के अनुभव-संसार को व्यापक बनाकर उसे वर्तमान से जोड़ती है।

### lR;rk ;FkkFkrk ,oa bekunkjh

आत्मकथा चूँकि वास्तविक जीवन की अभिव्यक्ति है, इसलिए उसकी सबसे बड़ी शर्त है – सत्यता, यथार्थता और ईमानदारी के साथ जीवन की प्रस्तुति। पाठक आत्मकथा

इसलिए पढ़ता है कि वह उसमें अभिव्यक्त जीवन को सत्य मानता है। वह सोचता है कि आत्मकथा में जिन अनुभवों, घटनाओं आदि को दिखाया गया है वे लेखक के वास्तविक जीवन से संबंधित हैं। इसलिए आत्मकथाकार का भी यह दायित्व बनता है कि वह ईमानदारी और निष्ठा के साथ सच कहने का साहस रखे और इसी सच को बिना किसी भय के आत्मकथा में उजागर करे। सच की यही अभिव्यक्ति 'आत्मकथा' को अन्य विधाओं से पृथक् करती है। भारतीय संस्कृति में सत्य को प्रिय के साथ जोड़कर प्रिय सत्य बोलने की परंपरा रही है अर्थात् जो प्रिय हो, वही सत्य बोलना चाहिए। अप्रिय सत्य को उजागर करना अनुचित मानकर उसकी अभिव्यक्ति पर पांबदी लगाई गई। किन्तु आत्मकथा इस प्रिय और अप्रिय के भेद को त्यागकर जो सच है, उसे उजागर करने की माँग करती है।

आत्मकथाकार अपने जीवन के यथार्थ की अभिव्यक्ति स्वयं करता है। वह जो भी कहता है, उन घटनाओं का वह अकेला दर्शक होता है। इसलिए आवश्यक यह है कि वह असत्य का सहारा न लेकर सत्य का प्रतिपादन करे। यहाँ लेखक स्वयं स्रष्टा भी है, सर्जक भी है और सामग्री भी। अतः बिना किसी अभिमान, कुंठा या पूर्वाग्रह के सत्य का अंकन आत्मकथाकार के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। ईमानदारी और सत्य के अभाव में 'आत्मकथा' आत्म की कथा न होकर छद्म कथा बन जाती है।

### xgurk vkj ikjnf'krk

आत्मकथा स्वयं को सार्वजनिक कर देने और फिर इस सार्वजनिकता में से स्वयं को पुनः पा लेने का मिला-जुला रूप है। अपने को सबके सामने प्रकट करने के लिए 'गहनता' ही वह तत्त्व है, जो व्यक्ति को स्वयं की खोज-बीन के लिए प्रेरित करती है। स्वयं को इस भाँति देखना कि व्यक्तित्व का कोई अंश छूट न जाए। गहनता और पारदर्शिता के कारण ही आत्मकथाकार स्वयं के जीवन का समग्रता और सम्पूर्णता से चित्रण करने में सक्षम होता है।

'आत्मकथा' व्यक्ति के अनुभव और दृष्टिकोण के साथ ही उस व्यापक समाज को समझने की दृष्टि भी देती है, जिससे उस व्यक्ति का संबंध होता है। आत्मकथाकार का यह कर्तव्य है कि वह गहनता और पारदर्शिता के साथ आत्मविवरण को हमारे समाने रखे।

n'kdky ,oa okrkoj.k

'आत्मकथा' एक ऐसी विधा है, जो घर, समाज, देश और विश्व तक को अपनी परिधि में समेटे हुए है। आत्मकथाकार अपने परिवेश से अवश्य प्रभावित होता है। जिस समाज, जिस माहौल में वह रहा है अथवा रह रहा होता है, उसका जीवंत चित्रण 'आत्मकथा' में आवश्यक है। क्योंकि इसके बिना चरित्र-नायक कठपुतली सा शून्य में झूलता प्रतीत होता है।

चूँकि आत्मकथाकार भी समाज का प्राणी है। समाज में रहकर ही वह अपनी विकास यात्रा को आगे बढ़ाता है। अतः उससे प्रभावित हुए बिना वह रह ही नहीं सकता। प्रत्येक आत्मकथा अन्तःस्थिति और परिस्थिति के घात-प्रतिघात का सम्मिलित रूप है।

Hkk"kk-'kSyh

अपनी भावनाओं, संवेदनाओं को व्यक्त करने के लिए आत्मकथाकार जिस माध्यम को अपनाता है, उसे भाषा कहते हैं। शैली वह ढंग या तरीका है, जिसके द्वारा आत्मकथाकार अपने जीवन को हमारे सामने रखता है।

आत्मकथाकार के लिए यह आवश्यक है कि वह सरल स्पष्ट और भावानुकूल भाषा का प्रयोग करे। ताकि लोगों को लेखक की कही बात आसानी से समझ में आ सके। चूँकि आत्मकथा का संबंध जीवन से है, अतः भाषा में भी जीवंतता अपेक्षित है। भाषा की दृष्टि से आत्मकथा को लेखक का निजी दस्तावेज कहा जा सकता है। जिस क्षेत्र से लेखक का संबंध है, वहाँ के रीति-रिवाज, परंपराओं को अभिव्यक्त करने में भाषा अपनी अहम् भूमिका निभाती है। अतः भाषा के द्वारा लेखक के व्यक्तित्व के कई पहलू उजागर हो जाते हैं। भाषा यदि आत्मकथा का शरीर है, तो शैली उसका गठन। शैली का प्रभावी होना आवश्यक है, साथ ही उसका रोचक होना पाठक पर अपना स्थायी प्रभाव छोड़ता है।

mn~n';

जब हम आत्मकथा पढ़ते हैं, तो हमारे मन में सर्वप्रथम यह प्रश्न आता है कि अमुक व्यक्ति ने आत्मकथा क्यों लिखी ? उसने जीवन के किन मूल्यों की स्थापना की ? सामान्यतः 'आत्मकथा' अपने व्यक्तिगत जीवन दर्शन को दूसरों के सामने रखने के

उद्देश्य से लिखी जाती है। महात्मा गाँधी ने अपनी आत्मकथा के माध्यम से व्यापक जन-समुदाय को अपनी सत्य-साधना से जोड़ना चाहा। उन्होंने आत्मकथा मनुष्य-सत्य की खोज और मनुष्यता की प्रतिष्ठा के उद्देश्य से लिखी। प्रत्येक आत्मकथाकार एक निश्चित उद्देश्य को सामने रखकर आत्मकथा लिखता है। यद्यपि यह उद्देश्य लेखक पर निर्भर करता है, लेकिन इतना निर्विवाद है कि इसमें मनुष्य के सर्वांगीण विकास का भाव अवश्य छिपा रहता है। अपने जीवन-दर्शन को सामने रख कर लेखक औरों को जीना सिखाता है। जो आत्मकथाएँ स्वयं को सिंहासन पर बैठाने या दूसरों को गलत साबित करने के उद्देश्य से लिखी जाती हैं, ऐसी आत्मकथाएँ वास्तव में अपनी सार्थकता खो देती हैं।

¼x½ efgyk vkRedFkk y[ku dk ledkyhu ifjn'';

"क्या हूँ मैं तुम्हारे लिए
एक तकिया
कि कहीं से थका – मांदा आया
और सिर टिका दिया
+ + + +
कोई खूँटी
कि ऊब उदासी थकान से भरी
कमीज उतारकर टाँग दी
या आँगन में तनी अरगनी
कि घर-भर के कपड़े लाद दिए
+ + + +
चुप क्यों हो
कहो न, क्या हूँ मैं
तुम्हारे लिए ?"[41]
-निर्मला पुतुल

स्त्री आत्मकथाएँ समाज के सामने एक स्त्री के अस्तित्व का, उसकी मौजूदगी का, उसकी स्वतंत्रता का और इन सब से बढ़कर उसके मनुष्य होने का एक प्रश्न खड़ा करती हैं। ये आत्मकथाएँ समाज की उस व्यवस्था के सच को उजागर करती हैं, जहाँ स्त्री को पति की नजर में बिस्तर का साथी, संतान की नजर में सेवा की मूर्ति, परपुरुष की नजर में हुस्न की मलिका और परिवार की नजर में कठपुतली समझा जाता है। ये आत्मकथाएँ स्त्री के प्रति समाज के उस रवैये को सामने लाती हैं, जहाँ उसके प्रेम को छिछोरेपन की संज्ञा दी जाती है। अगर वह नजर उठाकर देखे तो घमण्डी, नजर नीची करे तो गंवार, हँस दे तो मरजाद नहीं, रोए तो ढोंगी हो जाती है।

नारी को कभी सौन्दर्य की प्रतिमा माना गया, तो कभी शृंगार में मढ़ी हुई वस्तु। त्याग और कर्तव्य को तो उस पर जबरदस्ती थोपा गया, किन्तु उसकी स्वतंत्रता, उसके अस्तित्व को नकारने में ही इस समाज ने अपनी भलाई समझी। उसका सारा अस्तित्व अपने घर-परिवार की चाहरदीवारी में बसने वाले लोगों से जुड़ा और उन्हीं तक सीमित था। समाज अपनी बनी बनायी मर्यादाएँ बिना उसकी मर्जी जाने उस पर थोपता रहा और वह चुपचाप मूक बनकर सहन करती रही। अब तक स्त्रियों द्वारा जो झेला गया है, वह अभिव्यक्त नहीं हो पाया। उसकी आवाज को ही दबा दिया गया और यदि उसने कहने

का साहस किया भी तो उस कहे को अनसूना कर दिया गया। स्त्री की आत्माभिव्यक्तियाँ उसी झेले हुए को दिखाने और अब तक न सुने गए स्वर को आवाज देने वाली है। "स्त्री आत्मकथाओं के पाठ और सैद्धांतिकी की माँग ने स्त्री स्वरों की पहचान, स्त्री यौनिकता और स्त्री जीवन–चक्र से आलोचकों को रू-ब-रू कराया।"[42] अब तक यह माना जा रहा था कि स्त्री का अनुभव संसार महज उसके रोने-गाने तक ही सीमित है। ऐसा कहने वालें ने इस ओर ध्यान देने की जरूरत ही नहीं समझा कि स्त्री का अनुभव जगत मात्र एक स्त्री तक सीमित न होकर सार्वभौमिक है। वह उन लाखों-करोड़ों स्त्रियों का संसार है, जो स्त्री होने के दंश को झेल रही हैं। जब स्त्री स्वयं को अभिव्यक्त करती है, तो उसकी यह कोशिश कभी-कभी आक्रोश बनकर भी हमारे सामने आती है। आत्मकथा के माध्यम से सर्वप्रथम वह अपने गुमशुदा व्यक्तित्व की तलाश करती है और फिर अपने अनुभव संसार का पुनर्सृजन करती है।

स्त्रियों की ये आत्मकथाएँ सतत् पराजय, दमन और यातना झेलती आयी स्त्री का इस समाज से सीधा संवाद हैं। अस्तित्व की लड़ाई लड़ती हुई ये आत्माभिव्यक्तियाँ समाज को स्त्री को मनुष्य समझने का संदेश देती हैं। जीवन के कई प्रसंग, जिन्हें यह समाज अभिव्यक्त करने में तो पाबंदी लगाता है, पर उन प्रसंगों की क्रियान्विति में तनिक भी नहीं हिचकिचाता। ऐसे प्रसंगों को अभिव्यक्त करना उनके लिए एक चुनौतीपूर्ण और अत्यन्त जोखिम भरा काम है।

आत्मकथा स्त्री को जहाँ यथार्थ से टकराने का साहस देती है, वहीं उसे समाज में अपनी मौजूदगी दर्ज करवाने की ताकत भी। अतः स्त्रियों की ये आत्मकथाएँ वास्तव में समय और समाज के बदल रहे संबंधों का एक दस्तावेज बनकर हमारे सामने आती हैं "स्त्री की आत्मकथा समाज और परिवार की उन भीतरी सच्चाइयों से साक्षात्कार हैं, जिनकी चुभन जूते की कील की तरह सिर्फ पहनने वाला ही जानता है।"[43] ये आत्मकथाएँ 'स्त्री' की चली आ रही छवि से हटकर व्यवस्था के बदलाव का सपना संजोती हैं और इस परिभाषा को बदलने की कोशिश करती है, जहाँ उसे 'अबला' कहकर अधिकारों से वंचित रखा गया।

## 1- tk dgk ugh x;k & dle vly

कुसुम अंसल की यह आत्मकथा उन अनुभवों की अभिव्यक्ति है जो उनसे सहा नहीं गया और इन्हीं असहनीय प्रसंगों की पीड़ा को उजागर करती है। यह आत्मकथा अपनी अस्मिता की तलाश करती हुई समाज के सामने एक प्रश्न खड़ा करती है।

"क्या तुम जानते हो
पुरुष से भिन्न
एक स्त्री का एकांत
घर, प्रेम और जाति से अलग
एक स्त्री को उसकी अपनी जमीन
के बारे में बता सकते हो तुम ?
बता सकते हो
सदियों से अपना घर तलाशती
एक बेचैन स्त्री को
उसके घर का पता ?"[44]

अपनी आत्मकथा के माध्यम से कुसुम उस दर्द को भी अभिव्यक्ति देती हैं, जो उन्हें धनाढ्य मिसेल अंसल समझकर उपेक्षित होने के कारण सहन करना पड़ा। यह आत्मकथा लेखिका असंल और मिसेज अंसल के बीच के संघर्ष को अभिव्यक्त करती है।

आमुख में ही लेखिका यह दावा करती हैं 'ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया'। व्यक्तिगत ईमानदारी का निर्वाह करते हुए कुसुम अपनी जीवन कथा कहती है। कुल 15 अध्यायों में विभक्त यह आत्मकथा लेखिका के बचपन से आरंभ होकर भविष्य पर खत्म होती है। औरत धनी हो या निर्धन, संघर्ष सभी को करना पड़ता है। हाँ, यह अवश्य है कि उनके संघर्ष के रास्ते अलग हो सकते हैं। 'जो कहा नहीं गया' इन्हीं संघर्षों में अपनी राह तलाशती स्त्री की कथा है, जो अपने 'नास्ति' को 'अस्ति' में बदलने के लिए निरन्तर प्रयासरत रहती है।

पति की व्यस्तता और अपने व्यवसाय को वरीयता देना आदि स्थितियाँ कुसुम को अभाव और सूनेपन के बीच जीने को विवश करती रहीं। इतना सब होने पर भी कुसुम -पत्नी, बहू, माँ आदि भूमिकाओं को बड़ी संजीदगी से निभाती है। क्योंकि अपने जीवन में वह जान चुकी थी कि भूमिकाएँ अस्तित्व-निर्माण में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। स्वयं को तलाशती कुसुम अंततः लेखन द्वारा अपने स्वत्व की तलाश करती है। अरविन्द जैन की यह टिप्पणी काफी हद तक सही है – "इस आत्मकथा द्वारा

वातानुकूलित कोठियों में स्त्री की व्यक्तिगत छटपटाहट ही सही, मगर इसके माध्यम से समाजशास्त्रीय शोधकर्ताओं को सुविधासंपन्न वर्ग के भीतर झाँककर देखने-समझने की एक खिड़की तो मिली। 'घर का भेदी' भले ही सबकुछ न बताए, पर जो कुछ भी बताता है, उसके आधार पर काफी कुछ समझा जा सकता है। हर स्त्री अपने परिवार की 'आंशिक अभिव्यक्ति' ही है। फिलहाल औरत की आत्मकथा को अभिव्यक्ति देती यह किताब पहला 'नींव का पत्थर' है, जिस पर भविष्य में एक बहुमंजिली इमारत जरूर खड़ी होगी।"[45]

आज अगर स्त्रियाँ अपनी बेबाक बयानी के लिए जानी जा रही हैं, अपनी पहचान स्थापित करने में जी जान से लगी हैं, तो उनके कदमों को आगे बढ़ाने में कहीं-न-कहीं कुसुम जैसी लेखिकाओं का योगदान अवश्य है। आज उन्हें हुस्न की मलिका के साथ ही ज्ञान की प्रतिमा के रूप में भी देखा जा रहा है। अपनी आत्मकथा के माध्यम से कुसुम स्त्रियों को एक संदेश देती नजर आती हैं कि वे भी अपनी आपबीती को जग के सामने जाहिर कर सकती हैं ? इन सभी दृष्टियों से 'जो कहा नहीं गया' महिला आत्मकथा लेखन का द्वार खोलती हुई आत्मकथा है।

2- ^yxrk ugh g fny ejk* & Ñ".kk vfXugk=h

'लगता नहीं है दिल मेरा' ऐसी पहली आत्मकथा है, जिसे समाज सुनना तो चाहता है, पर चोरी छिपे। यह आत्मकथा समाज की उस मानसिकता को उजागर करती है, जो बाहर सभ्यता का लबादा ओढ़े शील और संयम की बड़ी-बड़ी बातें करते हैं लेकिन अन्दर बंद कमरे में औरत को नंगा देखना चाहते हैं। आत्मकथा के माध्यम से कृष्णा अग्निहोत्री समाज के सामने एक प्रश्न खड़ा करती हैं कि आखिर क्यों एक स्त्री को उसके अंग विशेष तक सीमित रख कर उसे वासनात्मक दृष्टि से देखा जाता है ?

कृष्णा का पति आई.पी.एस. है, पढ़ा-लिखा है, फिर भी उनके साथ पशुवत व्यवहार करता है। हद तो तब हो जाती है, जब वह अपने ही घर में वेश्यावृत्ति करना आरंभ कर देता है। कृष्णा तो उसके अनुसार गंवार है, इसलिए वह उसे प्रेम करना तो दूर, इंसान भी नहीं समझता है। एक आई.पी.एस. अधिकारी, जिसे जनता की रक्षा का दायित्व सौंपा जाता है, जब स्वयं ही अपराधी हो तो उससे जनता की रक्षा की अपेक्षा कैसे की जा सकती है ? पति के लिए कृष्णा सिर्फ एक कठपुतली है, जिसका काम है- पति की काम इच्छा को शांत करना। पति की दो बार नौकरी छूटती है, तब कृष्णा को ही सिफारिश करने के लिए कहा जाता है। अन्ततः अपने व्यवहार के चलते सत्यदेव तिवारी (कृष्णा के पति) की नौकरी छूट ही जाती है और कृष्णा को मारने-पीटने का सिलसिला और बढ़ जाता है। कृष्णा जिस-जिस के सम्पर्क में आयी, सभी ने उसे कामुक दृष्टि से देखा। बेइंतहा मोहब्बत का झूठा दावा करने वालों का एकमात्र लक्ष्य होता था – कृष्णा के साथ शारीरिक संसर्ग। सब कृष्णा को केवल उसके तन से सुनते रहे, उसके मन से नहीं।

यह आत्मकथा हमारे सामने कई प्रश्न खड़े करती है। आखिर क्यों पुरुष की भावनाओं को ही यह समाज महत्त्व देता है, स्त्री की भावनाओं, उसकी इच्छा-अनिच्छा से उसे कोई मतलब नहीं। प्रेम की रिक्तता में अब तक जीती आयी कृष्णा के अंदर एकाकीपन से उबरने की एक आस दिखती है, जब वह प्रताप से प्रेम करने लगती है, परन्तु प्रताप कृष्णा से क्यों प्रेम करेगा ? हाँ, अगर वह 16 वर्ष की किशोरी होती, तो जरूर कर लेता। कृष्णा की परवाह न कर वह अपने से 10-15 वर्ष छोटी युवती के साथ विवाह कर लेता है। जब एक पुरुष वासनात्मक रूप से स्वच्छन्द हो सकता है तो स्त्री क्यों नहीं ? पुरुष को एक से संतुष्टि नहीं और स्त्री को अपनी इच्छा से एक भी मयस्सर नहीं। वैसे भी स्त्री की कामशक्ति पुरुष से अधिक है, फिर भी उसकी इच्छाओं का

सम्मान आखिर क्यों नहीं किया जाता है ? पुरुष विवाहित होते हुए भी अन्य स्त्रियों के साथ संसर्ग की इच्छा रखता है। समाज के कई पहलुओं को उजागर करती यह आत्मकथा हमारे सामने ज्वलन्त प्रश्न खड़ा करती है – एक औरत के न्याय की, हक की, अपने वजूद के लिए की गई लड़ाई की। इन्हीं संदर्भों को साथ लेकर कृष्णा अग्निहोत्री की यह आत्मकथा अपने 'स्व' की तलाश करती है।

आत्मकथा में कृष्णा ने लिखा है – "मैंने अपनी आपबीती को बिल्कुल तटस्थ मुद्रा के साथ अभिव्यक्त किया है ... मेरे मरघट, मधुवन नहीं बने, परन्तु यहाँ जलती भावनाओं के शव जिन्दगी की ओर खींच ले जाते हैं और एक प्रश्न उठता है – हम क्यों नहीं मानव बने रह सकते ? क्यों नहीं स्वयं मानव रहकर अन्य मानव की अस्मिता स्वीकार कर लेते हैं ? हमें लगता है, जब तक मनुष्य के भीतर का पशु जीवित है, यह प्रश्न इसी प्रकार पूछा जाता रहेगा।"[46]

नारी-उत्पीड़न की कथा कहती यह आत्मकथा एक स्त्री के संघर्ष का जीवंत चित्रण हमारे सामने रखती है। बचपन में नौकर द्वारा छः-सात वर्ष की मासूम बच्चियों को नंगा करके अपने ऊपर सुलाने से लेकर, अपनी सगी माँ का स्वयं के प्रति व्यवहार का बड़ी स्पष्टता, ईमानदारी और निडरता के साथ चित्रण किया गया है।

प्रेम के अभाव में जीती आयी कृष्णा जीवन भर प्रेम को ही तलाशती रही। उसे इस प्रेम के बदले मिला – गाली, जूते, धोखा और एकाकीपन। अकेलेपन से जूझती कृष्णा अपना रास्ता खुद तैयार कर मानो ललकारती हुई कहती है -

"मुझे पत्थर मरवा सकते हो
चुनवा सकते हो दीवार में
फिर भी रहेगा इत्मीनान
कि मैं सच्चाई हूँ
नकारा है तुम्हारी झूठी सत्ता को
मैं औरत हूँ, हाँ मैं औरत हूँ।"[47]

### 3- nkgjk vfHk'kki & dk'kY;k c|l=h

'दोहरा अभिशाप' हिंदी साहित्य में दलित स्त्री द्वारा लिखित प्रथम आत्मकथा है। आत्मकथा का शीर्षक ही लेखिका के समस्त जीवन-संघर्ष को अभिव्यंजित कर देता है। अभिशाप और वह भी दोहरा – एक स्त्री और दूसरा दलित होना। शोषण के चक्र में

फँसी स्त्री की पीड़ा को उजागर करती यह आत्मकथा स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व के अधिकार की माँग करती है। आत्मकथा में कौशल्या बैसंत्री ने लिखा है – "मैं लेखिका नहीं हूँ, ना साहित्यिक लेकिन अस्पृश्य समाज में पैदा होने से जातीयता के नाम पर जो मानसिक यातनाएँ सहन करनी पड़ी, इसका मेरे संवेदनशील मन पर असर पड़ा। मैंने अपने अनुभव खुले मन से लिखे हैं। पुरुष प्रधान समाज औरतों का खुलापन बरदाश्त नहीं करता। पति तो इस ताक में रहता है कि पत्नी पर अपने पक्ष को उजागर करने के लिए चरित्रहीनता का ठप्पा लगा दे। पुत्र, भाई, पति सब मुझ पर नाराज हो सकते हैं, परंतु मुझे भी तो स्वतंत्रता चाहिए कि मैं अपनी बात समाज के सामने रख सकूँ।"[48]

आत्मकथा में एक ओर माँ और नानी के जीवन-संघर्ष की दारुण कथा है, तो दूसरी ओर कौशल्या बैसंत्री के संघर्ष की अभिव्यक्ति है। कौशल्या की माँ भागीरथी पेट काटकर बच्चों की पढ़ाई के लिए निरन्तर प्रयासरत रहती है। एक ऐसे समय में जबकि, दलित बच्चों की शिक्षा पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता था, भागीरथी के लिए शिक्षा सर्वप्रमुख है। माँ का दृढ़ संकल्प और आत्मविश्वासी होना कौशल्या के भविष्य निर्माण में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।

विवाह के बाद पति देवेन्द्र कुमार का कौशल्या के प्रति किया गया व्यवहार समाज की पुरुष मानसिकता को हमारे सामने लाता है। दलित समाज से तो मानवीयता की माँग करता है। बात जब स्त्री की आती है, तो शेष समाज का ही अनुसरण करना श्रेयस्कर समझता है। स्त्री दलितों के लिए भी भोग्या है, अबला है, जिसे मानव न मानकर पशु माना जाता है। कौशल्या का पति देवेन्द्र कुमार एक वरिष्ठ सरकारी अधिकारी है। उसे ताम्रपत्र भी मिल चुका है, लेकिन अपनी पत्नी के प्रति दायित्व निभाने के बजाए - "यही व्यक्ति अपने घर में लड़ाई करता था, अपनी पत्नी से। प्रशंसा तो दूर, उसे पेंशन के जो पैसे मिलते, उनमें से अपनी पत्नी को एक पैसा भी नहीं देता। पत्नी को स्वतंत्रता सेनानी भी दासी के रूप में ही देखना चाहता था।"[49]

यह आत्मकथा जीवन के कटु सत्य से हमारा साक्षात्कार कराती हुई कई प्रश्न खड़े करती है। मसलन, समाज का प्रत्येक पक्ष चाहे वह व्यक्ति हो या फिर परिस्थिति, एक स्त्री के प्रति इतना असंवेदनशील क्यों होता है ? समाज के प्रत्येक व्यक्ति के संघर्ष का एक दायरा होता है, लेकिन स्त्री का संघर्ष इतना असीमित क्यों होता है? जो उसे चैन से जीने नहीं देता। आखिर क्यों ?

## 4- ,d dgkuh ;g Hkh & eUnw HkaMkjh

'एक कहानी यह भी' मन्नू भंडारी की लेखन यात्रा के साथ ही उनके भावात्मक और सांसारिक जीवन को भी हमारे सामने रखती है। आस-पास के परिवेश को समेटती यह कृति समाज और देश तक भी अपना विस्तार लिए हुए है। लेखकीय -व्यक्तित्व पर केन्द्रित यह कृति जीवन के अनेक संपर्क -संबंधों को भी साधती है। लेखिका इसे आत्मकथा न मानकर जिन्दगी का एक टुकड़ा मानती है। कृति में वर्णित लेखिका के निजी जीवन, उसके विविध अनुभवों और जीवन के उतार-चढ़ाव संबंधी विभिन्न प्रसंगों के आधार पर उसे 'आत्मकथा' कहना सही जान पड़ता है। अर्चना वर्मा के शब्दों में -"मन्नू भंडारी इसे आत्मकथा नहीं मानती और पाठक के लिए यह सनसनीखेज हैरतअंगेज आत्मकथा का दरजा रखती है।"[50]

पुरुष वर्चस्व की निरंकुशता और क्रूरता को उजागर करती यह कृति स्त्री के सशक्तीकरण की बात भी करती है। यह सशक्तीकरण लेखिका के जीवन के अनेक प्रसंगों में उभरकर सामने आता है। फिर चाहे वह बिरादरी से बाहर एक साहित्यकार से विवाह करने का फैसला हो, रचनाकर्म के चुनाव का प्रश्न हो या फिर पति से अलग रहने का अपना स्वतंत्र निर्णय हो। एक स्त्री के स्वावलम्बन, उसकी अस्मिता के प्रश्नों को उठाती यह आत्मकथा स्त्री-प्रतिरोध का प्रमुख स्वर बनकर हमारे सामने आती है।

बालीगंज शिक्षा सदन से मन्नू साहित्य के क्षेत्र में अपना पहला कदम रखती हैं। यहीं उनकी मुलाकात राजेन्द्र यादव से होती है। यही मुलाकात धीरे-धीरे मित्रता में बदलती है, फिर प्रेम में। भावनाओं का उफान पिता की इच्छा के विरुद्ध राजेन्द्र से शादी करने के लिए विवश कर देता है – "एक ही रुचि...एक ही पेशा....कितना सुगम रहेगा जीवन! मुझे अपने लिखने के लिए तो जैसे राजमार्ग मिल जाएगा...।"[51] मन्नू की यह उमंग, उत्साह, उम्मीद क्षण भर में ही शोकभरी निराशा में तब्दील हो जाती है, जब पति यह कहता है - "देखो छत जरूर हमारी एक होगी, लेकिन जिन्दगियाँ अपनी अपनी होंगी, बिना एक-दूसरे की जिन्दगी में हस्तक्षेप किए बिल्कुल स्वतंत्र, मुक्त और अलग।"[52]

एक ओर सहजीवन के सुख-दुख और जिम्मेदारियों का मिल-बाँटकर उठाने का सपना और दूसरी ओर समानान्तर जिंदगी का आधुनिकतम पैटर्न! मन्नू की पीड़ा को उभारती यह कहानी, एक स्त्री के दुख को भी अभिव्यक्त करती है। पति के पास न तो पत्नी के लिए समय है और न ही कोई संवेदना। 'एक कहानी यह भी' पुरुष वर्चस्व को

हमारे सामने रखती है। सही हो या गलत – पति का अपने पक्ष पर अड़ा रहना। पत्नी का लाख समर्पण भी न तो पति के विचारों में कोई परिवर्तन ला पाता है और न ही जीने के रवैए में। पति का छल मन्नू की पीड़ा को और अधिक बढ़ा देता है। प्रेम किसी और से, शादी किसी दूसरे से। मन्नू ने क्या चाहा था ? पति से एक अटूट विश्वास, एक आत्मीयता और गहरी संवेदनशीलता। पर इन सबके बजाए उसे मिलता है- विश्वासघात। मन्नू अपनी विवशता पर आँसू बहाने के बजाए पति से अलग होने का स्वतंत्र निर्णय लेती है। वह अन्याय को सहने के बजाए विरोध का रास्ता तैयार करती है। यह है एक स्त्री का सशक्तीकरण।

इस कृति में मन्नू पूरी ईमानदारी और निष्पक्षता के साथ अपने समकालीन लेखकों का मूल्यांकन करती हैं। राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर और मोहन राकेश के लेखकीय और पारिवारिक संबंधों को उभारने के साथ ही, साहित्यजगत की विभिन्न पेचीदगियों को भी हमारे सामने रखती हैं। मन्नू भंडारी की यह आत्मकथा एक साथ अनेक रचनाओं को पढ़ने का अवसर भी देती है। 'यही सच है', 'त्रिशंकु' जैसी रचनाओं में अभिव्यक्त 'स्त्री-समाज', 'देश और समाज' को भली-भाँति समझने का एक मौका देती है।

5- fi;tj dh eUuk & pUnfdj.k lkujdk'kk

स्त्री जीवन के विविध पक्षों को उभारती यह आत्मकथा एक लेखिका के रचना संघर्ष की ईमानदार कोशिश है। 'पिंजरे की मैना' स्त्री जीवन की पीड़ा और विवशता के साथ ही संघर्ष और मुक्ति की छटपटाहट को भी अभिव्यक्त करती है। यह मुक्ति पुरुष से अलगाव में नहीं, बल्कि बराबरी के साझे में है। चन्द्रकिरण के अनुसार स्त्री की स्वतंत्रता समाज से पृथकता में नहीं, बल्कि समाज से जुड़ाव में है। बस जरूरत है उसे तलाश करने की।

छियासी साल की जीवन-यात्रा को उजागर करती यह आत्मकथा एक स्त्री, साथ ही एक लेखिका के देखे और जिए हुए जीवन की अभिव्यक्ति है। समाज में व्याप्त कुरीतियों, विषमताओं और बंधनों को अपनी लेखनी का विषय बनाकर चन्द्रकिरण समाज में व्याप्त पिछड़ेपन को दूर करना चाहती हैं।

चन्द्रकिरण के जीवन का संघर्ष बचपन से ही शुरू हो जाता है। असमय माँ की मृत्यु और फिर बाबूजी का देहान्त। अनाथ 'निक्की' (चन्द्रकिरण के बचपन का नाम) के लिए जीवन अंधकारमय हो जाता है। अब न तो वह अपने मन की बात किसी से कह

सकती थी और न ही अपना सुख-दुख किसी से बाँट सकती थी। बड़े भाई का ख्याल था- 'छोटों से निकटता रखना उन्हें अपना मुँह लगाना है'। ऊपर से भाभी का आरोप - "भाभी ने चुपके से भाई से शिकायत कर दी, 'बीबी जी फल-मिठाई चुराकर, अपनी अटैची में रखती हैं।"[53]

इतना सब अपमान सहने के बावजूद चन्द्रकिरण का धैर्य जवाब नहीं देता है। जीवन के अनुभवों को वह पन्नों पर उतारती रहती है। अब लेखन ही उसका एकमात्र सहारा था। घर से बाहर कदम रखना उसके लिए निषेध का प्रश्न था। अब भाई की अनुमति और इच्छा दोनों ही उसके लिए सर्वप्रमुख थी। उसने भाई को भाभी से यह कहते हुए सुना था – "सयानी लड़की साथ ले जाती हो, पर उसे संभालना नहीं आता। वह चाहे स्टेज पर खड़े होकर कविता सुनाए.... और बाद में सारा शहर उसकी चर्चा करे। यही नेकनामी एक दिन बदनामी में बदल जाएगी। आगे से मुझे ऐसी बात कभी सुनायी नहीं देनी चाहिए।"[54]

पिंजरे की मैना फड़फड़ाती है, क्योंकि वह अपने एकमात्र शौक, साथ ही उद्देश्य-'पढ़ने-लिखने' से वंचित थी। विपरीत परिस्थितियाँ होते हुए भी वह अपना लेखन जारी रखती है। चन्द्रकिरण की लिखी कहानियाँ उसके स्वयं के अनुभवों की अभिव्यक्ति हैं। घर की चहारदीवारी के अंदर एक नारी किस पीड़ा से गुजरती है ? इसका अनुभव उनकी कई कहानियों से होता है।

'बच्चन' जी के साथ शादी का प्रस्ताव चन्द्रकिरण के भाई ठुकरा देते हैं। वजह थी – दुहाजू और शायर और शराबी होने का शक। जबकि चन्द्रकिरण बच्चन की पत्नी बनना चाहती थी। प्रसिद्ध कवि से ब्याह करना उसके लिए गर्व की बात थी। लेकिन यहाँ भी "जुबान पर तो, हमेशा की तरह ताला लगा रहा।"[55] अपनी इच्छाओं का दम वह बार-बार घोंटती रहती है, महज इसलिए कि परिवार के अन्य सदस्य कहीं नाराज न हो जाए। 'विचार' के उपसंपादक कांतिचंद्र सौनरेकशा से चन्द्रकिरण का ब्याह कर दिया जाता है। ब्याह के बाद चन्द्रकिरण दोहरे शिकंजे में कैद कर दी जाती है। हर काम पति की इच्छा से करना।

पति की हर बात मानने को वह तैयार है। इसका मतलब यह नहीं है कि वह पति के सामने कमजोर है। बल्कि उसका उद्देश्य पति के साथ सामंजस्य बिठाने में है। इसलिए वह विरोध के बजाए सहयोग और स्वीकृति का रास्ता चुनती है। एक ओर घर

के सारे कामकाज और दूसरी ओर नौकरी का बोझ। एक प्रकार से दोहरी जिम्मेदारी। स्त्री की आर्थिक आत्मनिर्भरता उसे गृहिणी के कार्यों से आजाद कहाँ कर पाती है ? जबकि पुरुष के लिए घर के काम काज करने का प्रश्न ही नहीं उठता – फिर चाहे वह नौकरी करे या घर पर निकम्मा बैठा रहे। इतनी सारी व्यस्तता के बावजूद चन्द्रकिरण उसे बोझ नहीं मानती, बल्कि - "उस व्यस्त दिनचर्या में भी, मैं परम प्रसन्न और संतुष्ट थी। उस बीच बहुत कुछ ऐसा घटता देखा, जिसने मेरी कई अच्छी कहानियों को जन्म दिया। सोचने की बात है कि अपना सृजन करने का एकान्त या अवकाश मुझे कब और कहाँ मिलता था ?"[56]

परिवार को चलाने के लिए तिल-तिल कर खपने के बावजूद पति की शंकालु दृष्टि और उत्तेजित स्वभाव चन्द्रकिरण का निरन्तर पीछा करते रहते हैं। चन्द्रकिरण द्वारा भेजी गई कहानी पर संपादक का पत्र आने पर पति की प्रतिक्रिया - "ये साले संपादक भी लड़कियों को बड़े मीठे-मीठे पत्र लिखते हैं। अभी कोई पुरुष लेखक अपनी रचना भेजता तो उत्तर ही पंद्रह दिन बाद मिलता या मिलता ही नहीं। और 'यह' रसोई के सामने खड़े थे – क्रोध ईर्ष्या की मिली-जुली तस्वीर बन कर तुमने भी तो कहानी भेजते समय पत्र में कुछ-न-कुछ तो लिखा ही होगा जरूर ...उसके चूतड़ों में घी मला होगा।"[57]

पति का विश्वास पाने के बजाए उसे मिलता है – गाली-गलौज से भरा अपमानित जीवन। जिस संपादक (अमृतराय) की उसने शक्ल तक नहीं देखी, उसी के साथ वह संदेह के घेरे में खड़ी कर दी जाती है। इतना सब होने के बावजूद चन्द्रकिरण ऐसा कोई कदम नहीं उठाती, जिससे पति की शांति भंग हो। पलभर के लिए घर छोड़कर जाने का संकल्प त्यागकर वह पतिव्रता पत्नी बनने का निर्णय लेती है – "भविष्य में, अपने आप को कल शाम की स्थिति में दुबारा न पड़ने और कांतिजी को, किसी भी प्रकार अपशब्द की उस सीमा तक जाने का अवसर न प्रदान करने के लिए, मैंने दूसरा निश्चय किया- कहानी लिखूँगी, पर इन्हीं को पकड़ा दूँगी – फिर 'यह' चाहे जहाँ प्रकाशन के लिए भेजे – मेरा कोई सीधा संपर्क नहीं रहेगा – न संपादक के पत्र आएँगे, न ये झगड़े होंगे। (शायद यही वह सबसे आदर्शवादी, पतिव्रता पत्नी का निर्णय था – जिसकी कीमत मेरे पूरे साहित्यिक जीवन ने चुकाई और लगभग गुमनामी के कगार पर खड़ी-अभिशप्त सरस्वती के वरदान सी मैं खड़ी हूँ।"[58]

चन्द्रकिरण के जीवन का प्रत्येक मोड़ 'स्वीकार' के रास्ते पर जाकर खत्म होता है। कहीं काई प्रतिशोध का भाव नहीं। जीवन की कलह को उल्लास-उमंग में परिवर्तित करना उसका ध्येय है। पति की खुशी के लिए माँस-मछली तक बनाना सीखा, जबकि वह स्वयं माँसाहारी नहीं है। चन्द्रकिरण स्वयं को विजयी सिद्ध करने के बजाए रिश्तों की शाश्वतता के लिए चुप रहना बेहतर समझती है।

आत्मकथा में चन्द्रकिरण ने लिखा है – "आत्मकथा का केवल एक उद्देश्य होता है अपनी जीवन-यात्रा का, निष्पक्ष दर्शक की तरह पुनरावलोकन करना। 'पिंजरे की मैना' उसी का कल है।"[59]

आशा-निराशा, खोना-पाना, जीतना-हारना सबकुछ है इस आत्मकथा में। संघर्ष भरा 'जीवन', उम्मीद भरा 'पैगाम' हर वक्त थामे रहता है। 'कुछ न पाने' की पीड़ा भी 'कुछ पाने' की आशा में तब्दील हो जाती है। चन्द्रकिरण जीवन को हमेशा इस नजर से देखती है, कि उसे सब कुछ भरा-भरा ही लगता है। ठीक उस आधे भरे गिलास की तरह, जो आधा खाली है। वह तो देखने वाले की नजर पर निर्भर करता है कि वह उसे खाली माने या भरा। चन्द्रकिरण की सकारात्मक दृष्टि सदैव भरे हुए को देखती है। प्रसिद्ध साहित्यकार न बन पाने का मलाल तो उसे है, लेकिन संतुष्टि उसे इस बात की है कि एक माँ के रूप में उसकी जीवनयात्रा सफल रही, अपने बच्चों की जिम्मेदारी वह सही से निभा पाई।

चन्द्रकिरण सौनरेकशा की यह आत्मकथा मध्यवर्गीय स्त्री की पीड़ा और विवशता की संघर्षगाथा है। एक ऐसी स्त्री की आत्मकथा, जिसके लिए परिवार की प्रतिष्ठा का सवाल सर्वप्रमुख है। पति को इसलिए माफ करती रहती है, क्योंकि वह नहीं चाहती है कि समाज उसे 'छोड़ी हुई औरत' कहकर अपमान भरी निगाह से देखे। यह आत्मकथा स्त्री की स्थिति को बयाँ करने के साथ समसामयिक परिवेश को भी व्यक्त करती है। अपने परबाबा और बाबा के संघर्ष के माध्यम से 1857 के विद्रोह, अंग्रेजों की दमनकारी सत्ता, असहयोग आंदोलन, चीन का आक्रमण आदि समकालीन प्रश्नों की अनुगूँज आत्मकथा में मिलती रहती है। आर्यसमाज की सुधारवादी दृष्टि की भी चर्चा आत्मकथा में होती है।

लेखिका का उद्देश्य महज जीवन के ब्यौरे देना भर नहीं है, बल्कि पाठकों को अपने सत्य और स्वानुभूत से परिचित कराना भी है। भूमिका में लेखिका ने लिखा है -

"जीवनयात्रा (आत्मकथा) तभी समाज के लिए उपयोगी होगी, जब उस यात्रा कथा में पाठक को समाज या युग या मनुष्य का वर्णन रसमय और वास्तविक रूप से प्रतिबिंबित मिले। उसे पढ़कर पाठक उन बुराइयों के प्रति सचेत हो, जो समाज को पिछड़ापन देती है।"[60]

'पिंजरे की मैना' आत्मकथा-जगत में एक नया विमर्श खड़ा करती है। यहाँ स्त्री का पुरुष के प्रति विरोध या विद्रोह नहीं, बल्कि सबकुछ को स्वीकार करने का साहस है। अपनी कुछेक सीमाओं – 'अत्याचार सहते हुए भी मौन रहना, आदर्श पत्नी की बार-बार दुहाई देना, परिवार की मान-मर्यादा की जरूरत से ज्यादा परवाह के बावजूद 'पिंजरे की मैना' हिंदी साहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

6- vkj-vkj vkjr & Ñ".kk vfXugk=h

'लगता नहीं है दिल मेरा' के बाद कृष्णा अग्निहोत्री की आत्मकथा का दूसरा भाग आया – 'और-और औरत'। 'और-और औरत' परंपरापओं और संस्कारों में जकड़ी औरत के बीच से एक निर्भीक स्वतंत्र औरत के उभरने की गाथा है। घबराई, डरी और भयभीत औरत धीरे-धीरे डेयरिंग, साहसी और बोल्ड औरत में तब्दील हो जाती है। अत्याचार को अब तक सहती आई औरत, उत्पीड़न का प्रतिकार करने के लिए अब हाथ में बंदूक भी उठा सकती है। जो औरत अब तक गलत बात या व्यवहार को भाग्य समझकर सह लेती थी और सत्य पर धुंधलके की चादर डाल देती थी, अब वही अपने अस्तित्व और अस्मिता के लिए दुनिया भर से मोर्चा लेने को तैयार है।

'और – और औरत' अपनत्व तलाशती स्त्री की कहानी है, जो प्यार चाहती है, सहारा चाहती है, हमदर्दी चाहती है। इन सबके बजाए उसे मिलता है – अकेलापन, तन्हाई, धोखा। आई.ए.एस. अधिकारी अमन से लेकर प्रताप तक से उसे सिवाए विश्वासघात के और क्या मिलता है? कुछ नहीं। समाज की नग्न सच्चाई को उजागर करने के साथ ही यह आत्मकथा अकेलेपन से जूझती स्त्री की संघर्ष गाथा है। आत्मकथा में लेखिका ने लिखा है -

"मेरा तो पंछी उड़ता रहा
सुंदर सपनों को लेकर
जीवन बहता पानी-सा
अंधेरों से गुजर

पकड़ने को कई सुगंधें
पर हाथ खाली रहा।"[61]

बचपन से प्रेम की भूखी कृष्णा दुनिया में प्रेम बाँटना चाहती है। इसी प्यार, स्नेह के लिए जीवन के 70 साल वह दर–दर भटकती रही, पर आज भी वह प्यासी है। "न फूल खिले, न शहद चखा, न प्यार का स्पर्श पाया।"[62] बिना अपना स्वार्थ साधे, शायद ही किसी ने कृष्णा की सहायता के लिए अपना हाथ बढ़ाया हो। पुरुष देह चाहता है, तो स्त्री अपने समक्ष किसी अन्य स्त्री की काबिलियत को बर्दाश्त नहीं कर सकती है। कृष्णा के साथ भी यही होता है। आत्मकथा में कृष्णा ने लिखा है - "आत्मकथा में केवल रहस्य या अश्लील प्रेमकथाएँ लिखना नहीं चाहा, वहाँ मेरी रोज की लड़ाई है, जीवन में रोमाँस ही तो सबकुछ नहीं। अर्थ, संयम, दैनंदिन की अनिवार्य आवश्यकताओं का भी संघर्ष है।"[63]

जिसे प्रेम किया, वह उसका हो न सका, जिससे जीवन जोड़ना चाहा, वह उसे मिला ही नहीं। मिले तो बस झूठे वादे। जिससे दूर रहना चाहा, उसने बार-बार कृष्णा के दरवाजे पर दस्तक देनी चाही। जिसकी तरफ दोस्ती का हाथ बढ़ाना चाहा, उसने कृष्णा की देह को ही कुचलने की पुरजोर कोशिश की। कुछ ऐसा ही रहा कृष्णा का जीवन।

कृष्णा का संघर्ष एक ऐसी स्त्री का संघर्ष है, जो स्वयं तो समर्पित होती है, लेकिन बदले में सिवाए शोषण के और कुछ नहीं पाती। कृष्णा अपने पति द्वारा दमन के चक्र में लगातार घुटती रही। यह अश्लीलता नहीं तो और क्या है ? जहाँ पति अपनी कामुकता के चलते पत्नी की अनिच्छा के बावजूद उसे जोर-जबरदस्ती भोगता है। श्रीजोग से वह दूसरा विवाह तो कर लेती है, लेकिन यहाँ भी पुरुष की निर्ममता उस हद तक बढ़ जाती है कि वह कृष्णा के लेखकीय वजूद को ही डकारने की कोशिश करने लगता है। श्रीजोग यह तो चाहता है कि कृष्णा उनके बच्चों (पहली पत्नी से हुई संतान) के प्रति पूर्णरूप से समर्पित रहे। वह शायद यह भूल जाता है कि एक औरत भी समर्पण चाहती है – प्यार का, स्नेह का, जज्बातों को समझने का। श्रीजोग से यह सब मिलने के वजाए कृष्णा को मिलता है – रिश्तों का खोखलापन, तन्हाई का दर्द और समाज की उपेक्षा। 'रोहिताश चतुर्वेदी', जो कृष्णा को गोआ-यूनिवर्सिटी में भाषण देने का आमंत्रण देते हैं, सिर्फ और सिर्फ स्त्री-देह की खातिर। विवाहित होने के बावजूद 'रोहिताश' कृष्णा से प्यार और आलिगंन में जीने का प्रस्ताव रखते हैं। कृष्णा के द्वारा मना किए जाने पर उसके लेखकीय व्यक्तित्व को ही हाशिए पर डाल दिया जाता है। यहाँ भी, स्त्री की योग्यता को नकार दिया जाता है। पुरुष के लिए स्त्री का शरीर ही सर्वप्रमुख रहता है,

उसकी प्रतिभा का कोई महत्त्व नहीं ? कृष्णा का गोवा जाने के लिए हाँ कहना अर्थात् अपने शरीर का शोषण करवाना। कृष्णा नहीं जाती है, क्योंकि उसका व्यक्तित्व ऐसा नहीं, जो अपने 'स्वत्व' को सौदागरों के मूल्य पर तौले। आखिर कभी तो स्त्री को प्राणी समझो!

'अमन' एक आई.ए.एस ऑफिसर होकर भी कृष्णा को अपमानित करता है। 'अमन' यह भूल जाता है कि स्त्री हर उम्र में अपनी अस्मिता रखती है, फिर चाहे वह बूढ़ी हो या फिर जवान। पहले मिलने और बात करने की मनुहार और फिर कृष्णा को जेल भिजवाने की धमकी। कृष्णा की उम्र इतनी भी अधिक नहीं थी कि वह 'अमन' के मजाक का पात्र बनती। वैसे भी दोस्ती का हाथ तो अमन ने आगे बढ़ाया था। क्या सुंदर और जवान होना ही मित्रता की पहली शर्त है ? कृष्णा अमन की प्रेमिका तो वैसे भी नहीं बनना चाहती, फिर उसे दोस्ती का संबल तक अमन ने देना उचित न समझा। एक प्रशासनिक अधिकारी होने के बावजूद अमन का व्यवहार मानवता की सारी हदें पार कर जाता है। एक बार फिर भावनात्मक सहयोग के बजाए कृष्णा को मिलता है – अपमान, तिरस्कार और पीड़ा का दंश।

कृष्णा की यह आत्मकथा एक औरत की चौतरफा लड़ाई को बयाँ करती है। जीवन के हर मोड़ पर वह छली जाती है। कभी अपनों के द्वारा, तो कभी बेगानों के द्वारा। छोटी-सी उम्र में रिश्तेदारों के द्वारा शोषित हुई, जवानी में पति द्वारा छली गई। क्या बीती होगी कृष्णा पर ? जब उसे पता चलता है कि उसका ब्याह किसी मर्द के साथ न होकर नामर्द से हुआ है, जो अपने हथकंडों-तरीकों से स्वयं को मर्द प्रूफ करने पर तुला रहता है। कृष्णा के जीवन के ये प्रसंग यदि किसी को अश्लील लगते हैं; तो इससे बड़ी वीभत्सता और क्या होगी ? जब पढ़ने वाले को यह नग्नता से भरा चित्रण लगता है, तो जिस कृष्णा के साथ यह नग्न और क्रूर आचरण किया गया, उस पर क्या बीती होगी ?

कृष्णा बिना किसी पारिवारिक, सामाजिक, सहयोग के अपने अस्तित्व और अस्मिता की लड़ाई खुद लड़ती है। परिस्थितियाँ उसे जीने नहीं देती, फिर भी वह जीने का हौसला रखती है। दूसरों की उपेक्षा सहकर भी वह उनके अभावों को भरने का माद्दा आज भी रखती है। कृष्णा का जीवन ही कुछ ऐसा रहा कि बचपन बिना खिलौनों के बीता और यौवन पति के प्यार बिना गुजरा। आज उम्र के इस पड़ाव पर भी वह अकेले

जीने को विवश है। इस उम्र (72 वर्ष) में जब उसे अपनत्व की और सहारे की सबसे ज्यादा जरूरत है, वह उसे नसीब ही नहीं। चारों ओर दर्द से भरा जीवन-

"दर्द मेरे लबों पर है
दर्द मेरी छातियों में है
मैं सरापा दर्द हूँ
बहुत हो चुका रोशनी से भी डर लगता है।"[64]

आत्मकथा मात्र सुखद अनुभवों की किस्सागोई भर नहीं, बल्कि रोजमर्रा की लड़ाई का जीवट कर्म भी है। कृष्णा की यह आत्मकथा 'और और औरत' ऐसे ही जीवट कर्म का सशक्त उदाहरण है। इतना दर्द, अपमान, तिरस्कार, लांछन सहने के बावजूद आज भी उसकी जिजीविषा उसे बार-बार जीने की एक नई ताकत, नई हिम्मत देती है, कि अब तो -

"तू नहीं तेरा गम नहीं
तेरी जुस्तजू भी नहीं
गुजर रही है जिंदगी भी कुछ इस तरह
कि किसी सहारे की आरजू भी नहीं।"[65]

कृष्णा अग्निहोत्री की यह आत्मकथा कई मायनों में प्रासंगिक है। यह आत्मकथा समाज द्वारा आपत्तिजनक और अश्लील कहे जोने वाले प्रसंगों को बिना किसी डर, भय, लागलपेट के पूरी निडरता के साथ सामने रख देती है। आत्मकथा में वर्णित कुछ प्रसंग काल्पनिक भी लगते हैं, जैसे-अलवर में लहंगा-चुनरी पहने औरत का वर्णन, नलिनी के गेस्ट हाउस के दरवाजे पर खड़ी औरत का वर्णन आदि। इसके साथ ही कृष्णा के आत्मप्रशंसा से भरे प्रसंग, कहीं स्वयं के सौन्दर्य पर रीझ जाना, तो कहीं स्वयं को अपनी उम्र से छोटी युवती के बराबर आकर्षक और उत्तेजक मानना, आत्मकथा के महत्त्व को कुछ हद तक सीमित भी कर देते हैं। आत्मकथा अग्निहोत्री की आत्म के प्रति 'मुग्धता' तटस्थता की सीमा को बार-बार लांघती प्रतीत होती है। इन सबके बावजूद जीवन-सत्य का निष्ठा और ईमानदारी से वर्णन 'और–और औरत' को हिंदी की प्रमुख आत्मकथाओं में शामिल कर देता है।

7-f'kd|t dk nn & l|'khyk Vkd Hkkj

स्त्री के साथ-साथ दलित होने की त्रासदी को उभारती 'शिकंजे का दर्द' सदियों से चले आ रहे घेरे को तोड़ने वाली रचना है। अपने लेखन के माध्यम से सुशीला समाज की मानसिकता को बदलने का प्रयत्न करती हैं। स्त्री होने की पीड़ा को वह सहती हैं, लेकिन उनके स्वर में विद्रोह नहीं, व्यवस्था के बदलाव के सपने हैं। पराधीनता के दर्द को उजागर करती हुई इस आत्मकथा का शीर्षक ही सारे अर्थों को खोल देता है।

शिकंजा अर्थात् एक ऐसा कठघरा, जिसकी गिरफ्त में आकर कुछ भी करना कठिन हो जाए। लेखिका का जीवन कुछ ऐसे ही शिकंजे में जकड़ा रहा - "बचपन से युवावस्था तक मेरे जीवन के दिन अनेक प्रकार के शिकंजों में जकड़े हुए थे। इस जकड़न के कारण मेरे जीवन और व्यक्तित्व का विकास अवरुद्ध होता रहा।"[66]

श्रम, कष्ट, अभाव और जातिभेद की पीड़ा को सहती सुशीला को न तो बचपन का सुख मिलता है ओर न युवावस्था के सपने। आत्मकथा में लेखिका ने लिखा है - "जिस तरह किसी ताकतवर को शिकंजे में जकड़कर उसकी पूरी ताकत को नगण्य बना दिया जाता है, उसी तरह मुझे भी समाजिक जीवन की मनुवादी विषमता ने, वर्णवादी-जातिवादी समाज व्यवस्था ने शिकंजे में जकड़कर रखा, जिसका परिणाम पीड़ा-दर्द, छटपटाहट के सिवा कुछ नहीं है।"[67]

अपनी सच्चाई को उजागर कर सुशीला समतावादी समाज के निर्माण की आकांक्षा रखती हैं। आत्मकथा में अभिव्यक्त दलित जीवन के चित्र अन्याय और शोषण पर आधारित जाति व्यवस्था की पोल खोलकर समाज को एक नई दृष्टि प्रदान करती हैं। सुख और सम्मान की आकांक्षी सुशीला अपनी आत्मकथा के माध्यम से नारीमुक्ति और नारी उत्थान का एक सशक्त उदाहरण हमारे सामने रखती हैं।

स्त्री को यह समाज मूक बनकर सहन करने के लिए विवश करता है। यदि वह अपने घर-परिवार के अत्याचार की बात सभी के सामने उजागर करती है या फिर अपने अधिकारों की बात कहती है तो उसे कुलच्छनी की संज्ञा दे दी जाती है। आदर्श और कर्तव्य को उस पर जबरदस्ती थोप दिया जाता है। बात जब अपने अस्तित्व की आती है, अपने सम्मान की आती है, तो सिरे से नकार दिया जाता है। सुशीला भी अपने जीवन में अनेक कष्टों को सहती है, क्योंकि वह एक स्त्री है। समस्याओं से घिरी सुशीला आत्मकथा लिखकर अपनी पराधीनता की चारदीवारी को तोड़ने का प्रयास करती है। सुशीला के जीवन की वेदना को अभिव्यक्त करती यह आत्मकथा समाज में परिवर्तन के साथ ही एक स्त्री को उसके सबल रूप में देखने की माँग करती है। आत्मकथा में लेखिका ने लिखा है – "दर्द का निदान होना चाहिए, तभी 'शिकंजे का दर्द' आत्मकथा – लेखन सार्थक हो सकेगा।"[68]

'शिकंजे का दर्द' अपनी आपबीती से बढ़कर उन हजारों लोगों की संघर्ष गाथा है, जो आज भी जाति का दंश झेल रहे हैं, जिन्हें अछूत कहकर पग-पग पर अपमानित किया जाता है।

आत्मकथा के संदर्भ में रमणिका गुप्ता ने लिखा है– ''ये पितृसत्तात्मक मानसिकता के विरुद्ध झंडा लेकर खड़ी आत्मकथा है, जो अपने घाव उघाड़कर दया की भीख नहीं माँगती, लेकिन एक जमात बनकर इस मानसिकता के खिलाफ बोलने के लिए आह्वान करती हैं खासकर स्त्री जमात।"[69]

स्त्री, दलित और साथ ही समाज के सच को उजागर करती यह आत्मकथा हिंदी साहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

l nHk

[1] मनोविज्ञान (कक्षा–12) एन.सी. ई.आर.टी., पृ. 27

[2] पंकज चतुर्वेदी – आत्मकथा की संस्कृति, पृ. 14

[3] हंस, मार्च 2010, मैनेजर पाण्डेय का लेख–आत्मा का आईना, पृ. 52

[4] पंकज चतुर्वेदी – आत्मकथा की संस्कृति, पृ. 13

[5] वही, पृ. 14

[6] साहित्यकोश (आज्ञा चक्र), पृ. 77

[7] राजेन्द्र यादव – जवाब दो विक्रमादित्य, पृ. 30

[8] साहित्यकोश (आज्ञा चक्र), पृ. 77

[9] नगेन्द्र – हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ. 595

[10] रवीन्द्रनाथ टैगोर – मेरी आत्मकथा, प्राक्कथन

[11] रूसो की आत्मकथा, भाग–1, पृ. 17

[12] रूसो की आत्मकथा, भाग–2, पृ. 11

[13] कृष्णा अग्निहोत्री – लगता नहीं है दिल मेरा, भूमिका, पृ. 7

[14] पंकज चतुर्वेदी – आत्मकथा की संस्कृति, पृ. 14

[15] वही, पृ. 18

[16] वही, पृ. 18

[17] वही, भूमिका (viii)

[18] वही, पृ. 23

[19] वही, पृ. 35

[20] वही, पृ. 15

[21] वही, पृ. 38

[22] वही, पृ. 50

[23] तद्भव, जुलाई 2009, पृ. 147

[24] राजेन्द्र प्रसाद – आत्मकथा, प्राक्कथन

[25] महात्मा गांधी, सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, पृ. 6

[26] पंकज चतुर्वेदी – आत्मकथा की संस्कृति, पृ. 30

[27] वही, पृ. 137

[28] पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'– अपनी खबर, पृ. 15

[29] राजेन्द्र यादव – जवाब दो विक्रमादित्य, पृ. 32

[30] सुभाष चन्द्र – दलित आत्मकथाएँ : अनुभव से चिंतन, पृ. 51

[31] सूरजपाल चौहान – तिरस्कृत, भूमिका

[32] सुशीला टाकभौरे – शिकंजे का दर्द, भूमिका

[33] पंकज चुतुर्वेदी – आत्मकाा की संस्कृति, पृ. 61

[34] चम्पा श्रीवास्तव – हिंदी का आत्मकथात्मक साहित्य, पृ. 194

[35] वही, पृ. 153

[36] मनोविज्ञान (कक्षा–12) एन.सी. ई.आर.टी., पृ. 28

[37] हंस, आत्मकथा अंक, जनवरी–फरवरी 1932, पृ. 1अ

[38] हंस, जुलाई 2004, पृ. 38

[39] पंकज चतुर्वेदी – आत्मकथा की संस्कृति, भूमिका (vii)

[40] वही, पृ. 38

[41] निर्मला पुतुल – अपने घर की तलाश में, पृ. 40

[42] बहुवचन, जनवरी–मार्च 2010, पृ. 126

[43] राजेन्द्र यादव (संपा.) देहरिभई विदेस, पृ. 18

[44] निर्मला पुतुल – अपने घर की तलाश में, पृ. 1

[45] अरविंद जैन – औरत : अस्तित्व और अस्मिता, पृ. 129

[46] कृष्णा अग्निहोत्री – लगता नहीं है दिल मेरा, पृ. 55

[47] वर्तमान संदर्भ, अगस्त 2009, पृ. 83

[48] कौशल्या बैसंत्री – दोहरा अभिशाप, पृ. 8

[49] वही, पृ. 105

[50] हंस, मई 2007, पृ. 81

[51] मन्नू भंडारी – एक कहानी यह भी, पृ. 56

[52] वही, पृ. 56

[53] चन्द्रकिरण सौनरेक्शा – पिंजरे की मैना, पृ. 130

[54] वही, पृ. 133

[55] वही, पृ. 159

[56] वही, पृ. 214

[57] वही, पृ. 220

[58] वही, पृ. 224

[59] वही, पृ. 6

[60] वही, भूमिका

[61] कृष्णा अग्निहोत्री – और–और औरत, पृ. 159

[62] वही, पृ. 21

[63] वही, पृ. 9

[64] वही, पृ. 47

[65] वही, पृ. 155

[66] सुशीला टाकभौरे – शिकंजे का दर्द, भूमिका

[67] वही, भूमिका

[68] वही, भूमिका

[69] युद्धरत आम आदमी, मार्च 2012, पृ. 5

f}rh; v/;k;

# ^dLrwjh d{.My cl* vkSj ^xfM+;k Hkhrj xfM+;k*

## e vfHk0;Dr L=h thou d fofo/k i{k

¼d½ cpiu % ,d vyx igpku dh ek{x

¼[k½ fookg lsLFkk vkSj L=h

¼x½ ifr-iRuh lsc/k % cur&fcxM+r fj'r

¼?k½ L=h d ifr i#"k nf"Vdks.k

¼M-½ L=h thou dk l?k"k

¼p½ vfLerk ryk'krh L=h

मैत्रेयी पुष्पा हिंदी साहित्य की एक प्रमुख लेखिका हैं। इस नाते समकालीन साहित्य में स्त्री विमर्श को समझने के लिए उनकी आत्मकथा का तटस्थ विश्लेषण अनिवार्य हो जाता है। हिंदी साहित्य के स्त्री–विमर्श में मैत्रेयी पुष्पा का योगदान महत्त्वपूर्ण है। उनके कई उपन्यास, कहानियाँ तथा लेख इसके प्रमाण हैं। आत्मकथा के दोनों खंड – 'कस्तूरी कुण्डल बसै' और 'गुड़िया भीतर गुडिया' स्त्री जीवन की वास्तविकता को हमारे सामने रखते हैं। जैसा कि सीमोन द बोउवार और महादेवी वर्मा का मानना है कि स्त्रियाँ पैदा नहीं होती बल्कि बनाई जाती हैं। अर्थात् स्त्रियों के स्त्री होने में उनका जैविक शरीर उतना उत्तरदायी नहीं है, जितना कि समाज में प्रतिस्थापित पुरुषवादी नैतिकता और उनकी सत्ता। यह पुरुषवादी सत्ता किस प्रकार एक स्त्री को पैदा होते ही अपने गुंजलक में कसना प्रारंभ कर देता है, इसे कई महान विद्वानों ने विश्लेषित किया है। मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा में उन परिस्थितियों को देखना और उसका विश्लेषण करना, प्रासंगिक होने के साथ ही साहित्योपयोगी भी है। राजेन्द्र यादव के ये शब्द मैत्रेयी की साहित्यिक स्थिति को काफी हद तक उजागर कर देते हैं – "अगर मैं कहता हूँ कि स्वतंत्रता के बाद रांगेय राघव और फणीश्वरनाथ रेणु के साथ मैत्रेयी तीसरा नाम है, जो कथा–साहित्य में धूमकेतु की तरह आया है, तो न तो किसी पर अहसान कर रहा हूँ, न नए नक्षत्र की खोज का श्रेय लेना चाहता हूँ। सिर्फ उस लेखन से जुड़ना चाहता हूँ, जो हिंदी के संकुचित फलक का विस्तार कर रहा है।"[1]

'बेतवा बहती रही', 'इदन्नमम्', 'चाक', 'अल्मा कबूतरी' 'झूलानट', 'अगनपाखी' 'विजन' (उपन्यास), 'चिन्हार', 'ललमानियां', 'गोमा हंसती है' (कहानी संग्रह), 'लकीरें' (कविता–संग्रह), 'चर्चा हमारा', 'खुली खिड़कियाँ' और 'सुनो मालिक सुनो' (स्त्री विमर्श) आदि रचनाओं के माध्यम से मैत्रेयी पुष्पा स्त्री–अस्तित्व, अस्मिता और मुक्ति के स्वर को हमारे सामने रखती हैं।

30 नवम्बर 1944 ई. को 'सिकुर्रा' (अलीगढ़) में जन्मी मैत्रेयी का पालन–पोषण बुन्देलखण्ड के 'खिल्ली' गांव में होता है। ब्राह्मण परिवार में जन्मी मैत्रेयी, यादव परिवार के संस्कारों को पूरी तरह आत्मसात कर लेती हैं। मैत्रेयी के लेखन में ग्रामीण जीवन अपनी पूरी जीवंतता के साथ मौजूद है। बदलते सामाजिक संदर्भों में ग्रामीण जीवन के सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक परिदृश्य को लेखिका ने उसकी सम्पूर्णता में उभारा है। मैत्रेयी की रचनाओं में बुन्देलखण्ड का भरा–पूरा चित्र उपस्थित होता है। लोक–भाषा बुन्देलखण्डी में की गई अभिव्यक्ति अंचल की समस्याओं को काफी हद तक

उजागर कर देती है। रामविलास शर्मा ने लिखा है, साहित्यकारों से समाज यही चाहता है कि वे उसे सही बात बतायें और सही बात को सही ढंग से बताये। इसके लिए धरती की पकड़, आदमी की पहचान और अभिव्यक्ति की क्षमता – ये तीनों चीजें निहायत जरूरी है।"[2] मैत्रेयी हमें एक ऐसी ग्रामीण संस्कृति से परिचित कराती हैं, जहाँ शोषण और अन्याय के साथ ही स्नेह और प्रेम की अनंत धाराएँ हैं। दुख और पीड़ा होने के बावजूद, यहाँ एक दूसरे पर मर–मिटने की मिशालें भी हैं।

आत्मकथा का पहला खंड 'कस्तूरी कुण्डल बसै' समाज में नारी की स्थिति, जाति व्यवस्था, दहेज प्रथा, अनमेल विवाह, समलैंगिकता, समाज और राजनीति में व्याप्त भ्रष्टाचार, अव्यवस्था जैसे मुद्दों को उठाता है। आत्मकथा का यह खंड सेक्स के संबंध में पुरुषवादी वर्चस्व को तोड़कर स्त्री की सक्रियता के मुद्दे को भी हमारे समाने रखता है। आत्मकथा का दूसरा खंड 'गुडिया–भीतर–गुड़िया' मैत्रेयी के बहाने सम्पूर्ण स्त्री–जाति की विवाहोत्तर व्यथा–कथा को हमारे सामने रखता है। एक ऐसी स्त्री, जिसे पति अपने इशारों पर नचाना चाहता है। आत्मकथा का यह खंड एक स्त्री द्वारा पुरुष के समक्ष देह और मन को समर्पित करने की बाध्यता को हमारे सामने रखता है।

यह खंड मैत्रेयी के जीवन संघर्ष के साथ ही लेखकीय संघर्ष को भी पूरी तरह उजागर कर देता है।

## ¼d½ cpiu % ,d vyx igpku dh ekx

बचपन क्या है ? आशा और उमंग से भरा जीवन, जहाँ खुशियों को पाने की ललक होती है। कोई तनाव नहीं, कोई परेशानी नहीं और न ही कोई चिंता की रेखा। सबकुछ भूलकर अपने में इस तरह मगन कि दुनिया की खबर ही न रहे। बचपन ही आगे के जीवन का रास्ता तैयार करता है। स्वयं को इस प्रकार भूल जाना, कि क्या कर रहे हैं, इसकी चिंता न होकर जो करना चाहते हैं, कर ही देते हैं। कभी बालहठ, तो कभी रोना और फिर मनाने का क्रम 'बचपन' को जीवन के अन्य पड़ावों से पृथक करता है। 'लोग क्या कहेंगे' की चिन्ता छोड़कर लोगों की टिप्पणियों की परवाह न करना सिखाता है बचपन। कुछ पाने की इच्छा, कुछ कर गुजरने की उमंग, कुछ ऐसी ही जुदा रंगत लिए होता है बचपन।

बचपन मासूमियत से भरा होता है, वह तो प्यार चाहता है, सच्चा प्यार। रोता हुआ बच्चा माँ के स्पर्श मात्र से चुप हो जाता है। कुछ कल्पनाओं, कुछ सपनों, कुछ आकांक्षाओं का सृजन करता हुआ बचपन जीवन के दूसरे पड़ाव में अपनी निर्णायक भूमिका अदा करता है। बचपन में सीखे हुए संस्कार जीवन जीना सिखाते हैं।

कस्तूरी (मैत्रेयी की माँ) का बचपन, हँसी-खुशी उछलने-कूदने के दिनों में ही चिन्ता की लकीर खींच देता है। वहाँ शरारत तो दूर की बात है, हँसने की भी मनाही है। जिन्दगी की उलझनें कस्तूरी से उसका बचपन ही छीन लेती हैं। उसे नहीं पता है कि बालमन क्या होता है ? कस्तूरी का बचपन अभाव और भुखमरी में बीतता है। उसके पास समय कहाँ है कि वह कागज की किश्ती बनाकर खेले। वह तो यह भी नहीं जानती कि बचपन किसे कहते हैं। खाने-पीने के दिनों में काम की मजबूरी ! माँ से प्यार के बजाए उसे ताने ही सुनने को मिलते हैं। भाई और भाभी को भी वह बाल्यावस्था में ही एक स्त्री नजर आने लगती है।

अभाव भरी जिंदगी में जीने को मजबूर कस्तूरी पढ़-लिखने का सपना सँजोती है। चोरी-छिपे अपनी सहेली रामश्री से बाँचना और लिखना भी सीख जाती है। कस्तूरी को पढ़ना अच्छा लगता है - "पढ़ाई के कलम-खड़िया जैसे साधन प्राप्त करना कस्तूरी जैसी लड़की के न भाग्य में हैं, न बस में। उसने धरती की नरम रेत को तख्ती माना है। उँगली ही कलम बना ली। अपनी सहेली रामश्री को गुरु समझा।"[3] कस्तूरी किताब पढ़ना भी सीख गयी होती, यदि रामश्री विवाहित होकर ससुराल न जाती। कस्तूरी के पढ़ने का

प्रोत्साहन करने के बजाए चाची (माँ) का यह कहना कितना दर्दनाक है – "तो तू पोथी-पत्तरा पढ़कर बरबाद हुई है।"[4]

माँ की परवाह न कर कस्तूरी अपना रास्ता खुद बनाना चाहती है। उसे इस बात का तनिक भी मलाल नहीं कि उसके पास खड़िया, तख्ती या फिर कलम नहीं है, जो अन्य बच्चों के पास होते हैं। उसे पता था कि घर की आमदनी इतनी है कि किसी चीज के लिए जिद करना सही नहीं है। काशी फल उबालकर या कुलफा रौधकर पेट भरने की बात वह जानती है। माँ को अन्य चीजें उतना नहीं खटकती, जितनी कस्तूरी की जवानी खटकती है। 16 वर्ष की आयु में ही चाची (माँ) को कस्तूरी सत्यानाशिनी लगने लगती है। कस्तूरी की इच्छा, अनिच्छा से उन्हें कोई मतलब नहीं। यह है कस्तूरी का बचपन, जो खेलने-खाने के दिनों में मुसीबतों का अंबार उसके सामने खड़ा कर देता है। आखिर गलती क्या है कस्तूरी की ? यही कि उसने भी अन्य बच्चों की तरह अपने माँ-बाप से यह आशा की, कि वे उसे सुरक्षा दें, आगे बढ़ने की ललक उसके अन्दर पैदा करें। वह पढ़े-लिखे और आगे बढ़े। उसके माँ-बाप अपना दायित्व निभाना तो दूर, एक बच्ची को उसका बचपन भी नहीं जीने देते। पिता तो अपना दायित्व भूलकर गोरों के डर से भाग ही जाता है। माँ भी बेटी को भाइयों पर कुर्बान होने की बात सिखाती है। क्या यही है माँ-बाप का धर्म ? सिर्फ संतान पैदा करने से मतलब ? उसके बाद उसके मन की बात जानने की इच्छा नहीं ? कभी 'हरजाई' तो कभी कुल को मिटाने वाली 'नठिया' जैसे शब्द कस्तूरी को बार-बार सोचने को विवश करते हैं।

कस्तूरी को बचपन में मिलने वाले सुखों की परिकल्पना आखिर कैसे की जा सकती है ? यह सुनकर धक्का लगता है कि उसका पैदा होना ही परिवार के लिए गम भरा माहौल था। पैदा होते ही फिंकवाई भी गई। फेंके जाने के बावजूद वह बच जाती है। माँ द्वारा उसे पशु से भी बदतर समझना और मरने की बार-बार उलाहना देना, क्या कस्तूरी के बच जाने के बावजूद उसके बचपन को बचा पाए ? कहने को तो चाची (माँ) मातृत्व सुख प्राप्त करने के लिए बच्चा जनती हैं, लेकिन क्या कस्तूरी के बालसुख से उसे परिचित करवा पाती हैं ?

कस्तूरी का बचपन उन हजारों लड़कियों के बचपन की याद दिलाता है, जो पैदा होते ही या तो फेंक दी जाती हैं या फिर बेच दी जाती हैं। अगर इन दोनों स्थितियों से वे उबर भी जाती हैं, तो 8-9 वर्ष से ही काम पर लगा दी जाती हैं। अभाव, कष्ट उनके

बचपन को वीरान कर देते हैं। जिस लड़की को अपने पिता की छाँह और माँ का प्यार नसीब न हुआ हो, उसका बचपन कैसा गुजरा होगा ? जहाँ अभिव्यक्ति पर पाबंदी हो, वहाँ विकास की उम्मीद कैसे की जा सकती है ? कस्तूरी अपनी स्थिति को भली-भाँति जानती है। अपने को भीड़ से अलग स्थापित करने की तड़प उसे आगे चलकर ग्रामसेविका और फिर सहायक विकास अधिकारी के पद तक ले जाती है। अभाव भरा बचपन जीने के बावजूद कस्तूरी की यही लगन संभावनाओं के अनन्त द्वार खोल देती है।

कस्तूरी की बेटी 'मैत्रेयी' का बचपन ? मैत्रेयी के पास खाने को तो है पर वहां असहाय और पराश्रित होने की मजबूरी, माँ से आत्मीयता जोड़ने की विकलता और अकेलेपन में जीने की विवशता है। 'मैत्रेयी' कहने को तो आजादी की आहट लेकर आती है। पर क्या स्वयं आजाद हो पाती है ? बचपन का सुख भोग पाती है ? पिता का दिया हुआ नाम – मैत्रेयी, लेकिन 18 माह की उम्र में ही नाम देने वाले पिता का स्वर्ग सिधारना! मामा हेतराम उसका टेंटुआ दबाकर उसकी जीवन-लीला ही समाप्त करना चाहता है, ताकि बहिन कस्तूरी की संपत्ति का वह इकलौता वारिस बन बैठे।

मैत्रेयी जानती है कि उसे बचपन के रहते हुए भी बचपन छोड़ना पड़ा है। कैसा दर्द, कैसी पीड़ा है, उसके बालमन में ? मैत्रेयी द्वारा खेरापतिन दादी से कहे गए ये शब्द उसकी मनःस्थिति को पूरी तरह से उजागर कर देते हैं- "दादी, सरला, शिवकुमार के कितने मजे हैं, रोते हैं, जिद करते हैं। चीख-चिल्लाकर अम्मा को पुकारते हैं। वे डाँटती हैं तो कन्धे उचकाकर भाग जाते हैं। मेरी माताजी इतना सब नहीं झेल सकतीं। सो मैंने कभी नहीं कहा कि मैं खेलूँगी, मैं गाऊँगी, मैं झूलूँगी।"[5] अपनी उम्र से अधिक समझदारी! वह अपनत्व तलाशती है – कभी खेरापतिन दादी में, तो कभी कलावती चाची में। माँ उसके लिए माताजी हैं, जिनसे एक खास दूरी कायम है। वह अपने मन की सारी बातें खेरापतिन दादी से कहती है, क्योंकि बच्चा अपना-पराया नहीं जानता। वह तो प्रेम चाहता है। मैत्रेयी माँ का स्पर्श चाहती है, अपनत्व चाहती है, पर उसे यह नसीब नहीं होता। कस्तूरी की नजर में बेटी को पढ़ाना ही उसका दायित्व है, मैत्रेयी के मन पर क्या गुजरती है, इससे मतलब नहीं। वह यह जानने की कोशिश भी नहीं करती कि मैत्रेयी के बालमन की क्या माँग है, उसकी क्या इच्छा है ? शायद कस्तूरी ने इस अकेलेपन के दर्द को बचपन में सहा ही न था। भरा-पूरा परिवार था – माँ, भाई-भाभी, कई रिश्तों की डोर में बंधी हुई थी कस्तूरी। एक स्पर्श, एक अहसास था कस्तूरी के जीवन में; जिसे पाने के

लिए मैत्रेयी नाम की लड़की जीवन भर जूझती रहती है। शायद खुद की पीड़ा की भरपाई करती कस्तूरी अपनी ही बेटी की पीड़ा को भूल सी गई।

क्या गुजरी होगी मैत्रेयी के बालमन पर जब जनने वाली माँ ही उसकी भावनाओं की कद्र न करे ? वह भी एक ऐसी माँ, जिसने अपने जीवन में बहुत सहा-भोगा है। खाने को तो उसे मिलता है, लेकिन मात्र जिन्दा रहने भर के लिए। माँ को इतना समय कहाँ कि वह बेटी के लिए पकवान बनाए। अधजली रोटी, अधपकी दाल, क्या यही काफी नहीं हैं बेटी के लिए ? कस्तूरी स्वयं के जीवन-संघर्ष में इतना विस्मृत हो गई कि उसे अपनी बेटी की सुध ही न रही। एक निजी मुलाकात में मैत्रेयी स्वयं कहती है कि मुझे याद नहीं कि मेरी माँ ने मेरे लिए दाल-साग-रोटी के अतिरिक्त कुछ बनाया हो। हद तो तब हो जाती है जब गौरा (कस्तूरी की साथिन) द्वारा लाए गए लड्डुओं में से कस्तूरी मैत्रेयी को लड्डू का एक टुकड़ा तक नहीं देती हैं। उसे रोता-बिलखता छोड़कर वह झाँसी चली जाती हैं। कहते हैं बच्चे के खाने से माँ का पेट बिना खाए ही भर जाता है, लेकिन यहाँ एक अद्‌भुत नजारा! क्या गुजरी होगी मैत्रेयी के मन पर ? वह स्वयं कहती हैं कि माँ भले लड्डू ने देती, लेकिन दो मिनट रूककर उस पर कम-से-कम स्नेह का हाथ तो फेर देतीं।

प्रेम और स्नेह तलाशती मैत्रेयी कभी खेरापतिन दादी से अपनी आपबीती कहकर, तो कभी 'चन्दना' का गीत गाकर अपने मन को समझाने की कोशिश करती है। स्कूल के मास्टर लालसिंह तो कह देते हैं कि मैत्रेयी का पढ़ाई में मन नहीं लगता। कस्तूरी भी इसे सत्य हरिश्चन्द्र का कथन मानकर अफसोस करने लगती है – "औलाद का बिगड़ना, अपने बने वर्तमान और भविष्य पर कालिख है।"[6] कस्तूरी यह जानने की कोशिश नहीं करती कि इसकी छोर कहाँ है ? माँ का दायित्व ही यही होता है कि सारी स्थितियों को जानकर बच्चों की उलझनों को दूर करे। मैत्रेयी पढ़ाई से नहीं उस रास्ते से डरती है, जहाँ पेड़ की छाँह में बिठाकर उसके अंगों को नोचा जाता है, जहाँ हाथ उसकी फ्रॉक को पार करते हुए जाँघों तक पहुँच जाते हैं। बचपन में ही लड़की होने का दर्द झेलना पड़ता है मैत्रेयी को। यहाँ भी कस्तूरी कुछ सुनने-समझने की बजाए हुकुम जारी कर देती है – "जब तक यहाँ के स्कूल में है, बस पैदल जा और आ। कोई बदतमीजी करे तो स्कूल के मास्टर से कहा।"[7]

मैत्रेयी अपनेपन की तलाश में थी, जो उसे माँ द्वारा मिला ही नहीं। मैत्रेयी के मन को समझने के बजाए, कस्तूरी का यह कहना कितना दर्दनाक है – "यह छोटी-सी लड़की अपने दुख-दर्द के सिवा क्या कुछ समझ सकती है ? शायद दुनिया में बच्चा ही सबसे ज्यादा स्वार्थी होता है, जो दूसरों की तकलीफ और मजबूरी को हर समय नजर अन्दाज करता रहता है।"[8] कस्तूरी को ऐसी माँएं नागवार गुजरती हैं, जो बच्चे पर मोह बरसाती हैं। क्या मैत्रेयी के लिए जरा सी भी ममता जरूरी नहीं। कस्तूरी को नौकरी मिलना अर्थात् मैत्रेयी को जगह-जगह रहने का फरमान!

माँ द्वारा मैत्रेयी को समाज-कल्याण बोर्ड की संयोजिका के यहाँ रहने का बन्दोबस्त कर दिया जाता है। माँ का छोड़कर चले जाना, एक बच्चे के लिए इससे बड़ा दुःख और क्या होगा ? उस पर भी एक साल तक कोई खबर न लेना ! "रोना आता था माँ के बिना, जैसे माँ छोड़ नहीं गई, मर गई है पिता की तरह कब आएगी कि कभी नहीं आएगी ?"[9]

संयोजिका जी के जिस घर में कस्तूरी अपनी बेटी को रहने के लिए छोड़ जाती हैं, उस घर की स्थितियाँ उसे चैन से जीने नहीं देतीं। संयोजिका जी को मैत्रेयी से केवल पानी लाने, पाँव दबवाने या अन्य काम करवाने भर से मतलब था। उसका छोटा बेटा मैत्रेयी के साथ क्या करता है, वह यह नहीं देखती। विवाहित होकर भी वह आदमी मैत्रेयी की छाती नोंचता है और कच्छी उघाड़ता है, वह भी रात के अंधेरों में। छोटी सी उम्र में बलात्कार! माताजी को पत्र भेजकर मैत्रेयी अपनी यह स्थिति बताती है, लेकिन कितना पत्थरदिल है कस्तूरी ? कि वह नहीं आती, आता है उसका पत्र। महज 8 वर्ष की लड़की 'मैत्रेयी' दर-दर की ठोकर खाने को मजबूर हो जाती है। एक अन्य घर में मैत्रेयी के रहने का प्रबंध कर दिया जाता है। आँखें भरकर अबोध सी बच्ची अपनी माँ के बिछोह को सहन नहीं कर पाती और – "चुपके से उनका ब्लाउज अपने पास रख लिया, जिसमें उनकी गन्ध बसी थी। रोज रात को वह तकिया के नीचे रहता, लगता कि माँ पास है।"[10] कस्तूरी गाँव से गौरा (कस्तूरी की साथिन) को तो साथ ले जाती हैं, लेकिन बेटी में ऐसा क्या था ? जो उससे दूर रहना ही उन्होंने सही समझा। इस घर की स्थिति भी लगभग संयोजिका जी के घर ही जैसी! वहाँ एक जवान आदमी था, यहाँ एक बूढ़ा ही, बच्ची सी 'मैत्रेयी' की इज्जत उतारने पर उतारू हो जाता है। मैत्रेयी अपनी व्यथा किससे कहे ? यही विवशता उसके बचपन को उससे छीन लेती है। अकेले ही मैत्रेयी 'खिल्ली' जाने का निश्चय करती है। यादव जाति के चिमनसिंह के परिवार में वह अपनत्व तलाशती है, जो

उसे मिल भी जाता है। माँ सी कक्को, पिता जैसे चिमनसिंह और दस भाई, चार भाभी। मानो मैत्रेयी की साध पूरी हो गई हो। लाड़-दुलार भी खुब मिलता है – "सारे कुटुम्ब की लाडली मैत्रेयी रोज डी.बी. इंटर कॉलेज मेरठ में पढ़ने जाती है। सबेरे-साँझ भरपेट रोटी मिलती है।"[11]

कस्तूरी को मैत्रेयी का चिमनसिंह के घर से घुलना-मिलना नागवार गुजरता है। प्रश्न यह उठता है कि जब मैत्रेयी पर बलात्कार पर बलात्कार हुए जा रहे थे, तब कस्तूरी कहाँ थी ? आज जब वह प्रेम, स्नेह और ममता की चाह में यादव परिवार में घुलने लगती है, तब फिर क्यों कस्तूरी चीख उठती है ? माँ को उस नौजवान आदमी और बूढ़े व्यक्ति से उतना डर नहीं लगता, जितना लगता है मैत्रेयी के साथ पढ़ने वाले किशोरवय नवयुवकों से। आखिर क्यों ? का जवाब तलाशती मैत्रेयी को माँ, मर्दों जैसी कठोर लगने लगती है। "क्या पाया माँ के पास आकर ? पहले बिछोह था, अब सजाएँ हैं।"[12] दर्द, दुःख, दूरी तब भी थी, जब मैत्रेयी माँ से दूर थी। आँखों में आँसू, कुछ न कह पाने की विवशता और निर्दोष होते हुए भी अपराधी करार दिए जाने की पीड़ा अब भी है, जब मैत्रेयी माँ के पास है।

मैत्रेयी अपने दुःख को न तो किसी से बाँट सकती है और न ही दादा, काकी या फिर मुँहबोले भाई, भाभियों के सामने बयाँ कर सकती है। यही मजबूरी उसकी छोटी-सी जिंदगी को लगभग तबाह कर देती है। कस्तूरी ने यह क्यों नहीं जाना कि बच्चा तो विधवा से भी ज्यादा मजबूर होता है।

बचपन क्या माँगता है ? एक सहारा, ममता का आँचल, सहयोग का हाथ, लाड़-दुलार भरी बाँहें। 8-9 वर्ष में मैत्रेयी को गुरुकुल भेजना, और फिर 12-13 वर्ष की उम्र में अनजान लोगों के बीच अलीगढ़ भेजना, क्या मैत्रेयी को उसका बचपन जीने देते हैं ? कहा जाता है कि अपने बच्चे से ज्यादा प्यारा दुनिया में कुछ नहीं। कोई दोस्त इसकी बराबरी नहीं कर सकती। मैत्रेयी की स्थिति उसे अभागिन कहने में भी नहीं हिचकिचाती। उम्र बढ़ने के साथ-साथ उसका दुःख भी गहराता जाता है – "मैत्रेयी के भीतर उम्र के कई घट रीटे पड़े हैं। बचपन तो एकदम ठनठन है।"[13]

कैसा बचपन है यहाँ ? जहाँ बच्ची अपनी माँ को एक-दो दिन साथ रहने के लिए कहती है; जानती है कल इतवार है और माँ की छुट्टी है, लेकिन माँ 'जौइनिंग रिपोर्ट' देने का बहाना बनाकर झाँसी के बजाए गौरा के पीहर 'गंगौली' ठहर जाती हैं। कहाँ का

न्याय है यह ? माँ की कमर से चिपककर सोना भी मैत्रेयी को नसीब नहीं, क्योंकि माँ के साथ तो गौरा सोती है। इसलिए उसे उन बच्चों से सदा ईर्ष्या रहती है, जो अपनी माँ का संग-साथ पाते हैं, चाहे वह मुन्नी हो या फिर शिवकुमार।

'माँ मुझे अपने पास बुला लो' की जिद क्या कस्तूरी समझ पाईं ? मैत्रेयी सवाल करती है – "माताजी, मुझे जिन घरों में छोड़ आती थीं, वहाँ मेरा अपना कौन था ? वे घर तुम्हारे दिए अन्न और थोड़े से धन के ग्राहक थे।"[14] बलात्कार और बालश्रम में फँसी बच्ची को क्या छाँव नसीब हो पाई ? ऐसे ही कठोर प्रश्नों से साक्षात्कार कराता है मैत्रेयी का बचपन। महज 12-13 वर्ष की छोटी सी उम्र में उसे 'साली' की गाली दी जाती है। अपराध क्या है उसका कि वह लिंग में पुरुष नहीं, स्त्री होकर पैदा हुई ?

गुरुकुल में भूखे पेट सोना और नमक-चीनी चाटकर कुछ खाने का अहसास जगाना ! बाल -सपनों पर मानो कैंची सी चल जाती है। विभिन्न घरों में, जिनमें मैत्रेयी को रखा गया, कभी बर्तन न माँज पाने पर मालकिन द्वारा की गयी मार-पीट उसे खून में नहला देती है, तो कभी उस घर के लड़के के कहने पर अपनी देह को न परोसे जाने के विरोध में उसे 'हरामजादी' और 'हिजड़ी' भी करार दिया जाता है। छोटी सी उम्र में उस लड़के द्वारा उपहार स्वरूप उसे एक अश्लील पुस्तक दी जाती है – 'भांग की पकौड़ी'। उस पर भी चैन नहीं, 24-25 वर्ष का श्रीप्रकाश नाम का एक अन्य व्यक्ति लाकर देता है उसे 'ब्रा' का पैकेट। मैत्रेयी को कहाँ पता था कि उस घर के मालिक ने उसका सौदा कर दिया है ? 400 रुपए में एक रात गुजारने का सौदा। देह मैत्रेयी की थी, पर मंजूरी मकान मालिक की। हाथापाई, गुत्थमगुत्थी, एक और बलात्कार!

साजिशों का चक्रव्यूह, बचने की होड़ कुछ ऐसा ही रहा मैत्रेयी का बचपन। बावजूद इसके, वहाँ एक जिद अवश्य थी, जो उसे कुछ कर गुजरने की सीख देती थी। तमाम बाधाएँ पार करते हुए मैत्रेयी अपनी पढ़ाई जारी रखती है। कभी 'यह छत', तो कभी 'वो रास्ता' तय करती हुई मैत्रेयी द्वारा बुंदेलखंड विश्वविद्यालय के बी. के. डी. कॉलेज में एडमिशन लेना वास्तव में काबिलेतारीफ है। मैत्रेयी की ये सारी स्थितियाँ हमसे सवाल करती हैं कि क्या एक स्त्री का धर्म है – दर्द के जहर को पीना ? पीने के बाद पचाने की भी उसे हिदायत दे दी जाती है।

सिर्कुरा से लेकर झाँसी तक हर एक घटना मैत्रेयी के बचपन को वीरान कर देती है, लेकिन मैत्रेयी हार नहीं मानती। हर एक चीज से लड़ती है, जो उसके वजूद को

खोखला बनाने की कोशिश करते हैं। बचपन की मस्ती-भरी जिदें न सही, पर भविष्य को संजोने का हौसला तो है। अभाव भरा बचपन कुछ बनने की जिद में तब्दील हो जाता है। स्वाभिमान हर जगह उसके साथ है। सच कहने की आदत और अपनी अलग पहचान बनाने की जिद उसे आगे बढ़ने की राह दिखाती रहती है। अपने स्वत्व से खिलवाड़ करने वाली व्यवस्था से वह नाता तोड़ना भी जानती है – "यह स्कूल किसी प्रिंसिपल की बपौती नहीं। मैनेजमेंट कमेटी सुप्रीम कोर्ट नहीं। अगर यह स्कूल व्याभिचारियों और अन्यायी शिक्षकों का अड्डा है, तो यह मेरे योग्य स्कूल नहीं। थू है यहाँ की शिक्षा पर।"[15]

महज 5 वर्ष की उम्र में ही विदा लेने वाला बचपन, मैत्रेयी के जीवन को आखिरकार सपनों से भर ही देता है। अभाव ही कुछ पाने की चाहत पैदा करते हैं-

"तैरते रहते हैं सपने
इनकी छोटी चमकीली आँखों में
सपने अपने-अपने
तरह-तरह के
कुछ तो अलग कर दिखाने के।"[16]

जो बेटी, अपनी माँ से कभी गले नहीं मिल सकी, उनका स्पर्श नहीं पा सकी, उसे अपनापन कितना मिला होगा ? इसकी कल्पना की जा सकती है – "बाप मर गए, माँ छोड़ गई। बड़ी हुई तो गिद्ध मिले। वे नोंचे खोंटे, मैं तड़पूँ रोऊँ, लेकिन पुकार वहाँ तक न पहुँचे, जहाँ माँ है। निर्विहीन स्वतंत्र जीवन जीने वाली स्त्री को बच्चा कहाँ रास आए ? माताजी, दया तरस तुम्हें बोनस में मिलता था। बस जिन्दगी को तरक्की में तब्दील कर लिया।"[17] मैत्रेयी प्यार तलाशती रही, पर माँ को प्यार देने की फुर्सत ही कहाँ ?

मैत्रेयी को माँ का प्यार नसीब न हुआ। न ही वह अपनत्व भरा बचपन हासिल कर पाई। यही कारण है कि वह अपनी बच्चियों-नम्रता, मोहिता, सुजाता को जी-जान से पालती है। उसने महसूस किया था – अकेलापन, अपनापन। जिन अनुभवों से वह गुजरी, जो दुख-दर्द उसने सहे, वह नहीं चाहती कि ये कटु अनुभव मेरी बच्चियों के जीवन में आएं। बच्चियों को जन्म देने से लेकर उन्हें आत्मनिर्भर बनाने तक की सारी जिम्मेदारियों को वह बखूबी निभाती है। अपना लेखन भी मैत्रेयी तब शुरू करती हैं, जबकि तीनों बच्चियाँ सैटिल हो चुकी हैं। वह नहीं चाहती कि मेरी बच्चियाँ किसी भी अभाव से गुजरें।

मैत्रेयी अपनी बच्चियों का भावनात्मक सहारा बनती है। उनकी एक-एक मानसिक स्थिति को पढ़ना जानती है।

डॉक्टर बनाने का जो सपना मैत्रेयी ने अपनी बच्चियों के लिए देखा था, वह सच होता है। आज नम्रता, मोहिता, सुजाता तीनों डॉक्टर हैं। जो समाज बच्चियों के जन्म के समय 'थाली' के बजाए 'तवे' को बजाने की बात करता था, आज वही समाज इन तीनों की प्रतिभा के सामने नतमस्तक है। मैत्रेयी बचपन वैसे नहीं जी पायी, जैसे जिया जाता है, इसलिए उसकी सारी कोशिश इसी में रहती है कि मेरी बच्चियाँ वह सब पाएं, जो मैं न पा सकी। वह अपना एक-एक क्षण, एक-एक पल अपनी संतान के खातिर होम कर देने को तैयार है। शायद इसीलिए कहा जाता है – 'माँ से बड़ी ताकत दुनिया में और कोई नहीं'।

¼[k½ fookg lLFkk vkj L=h

विवाह ? कहने को तो सात फेरों का बंधन है, लेकिन वह जिंदगी भर साथ निभाने का वादा भी माँगता है। विवाह सामंजस्य चाहता है, जिसका आधार विश्वास होता है। जीवनसाथी का स्पर्श, उसका सान्निध्य मुसीबतों से लड़ने की ताकत देता है। आपसी मेल-मिलाप का यह मिलन जिंदगी की नए सिरे से शुरूआत ही तो है। कस्तूरी को जहाँ विवाह से डर लगता है और वह विवाह नहीं करना चाहती, वहीं मैत्रेयी, माँ से जिद करती है कि मेरा ब्याह कर दो। एक जहाँ विवाह को 'बंधन' मानती है, वहीं दूसरी 'जिंदगी की खूबसूरत तस्वीर; जो पिया-मिलन के तरह-तरह के सपने देखती है।

'मैं ब्याह नहीं करूँगी' की चीख क्या कस्तूरी को विवाह न करने की छूट दे पाती है? नहीं न। चाची (माँ) लड़की द्वारा ऐसे दुस्साहस की उम्मीद कैसे कर सकती थीं ? जैसा कहा जाए, वैसा करो की सीख देने वाली माँ उसे लड़कियों के शील से परिचित करवाती है, जो मर्यादा नहीं तोड़ा करते। ब्याह भी तो मान-मर्यादा से जुड़ा हुआ प्रश्न है। भाई को बहिन, घर की इज्जत मेंटनेवाली लगने लगती है। वश चले तो गाड़ भी दे। कस्तूरी को अचम्भा इस बात का था – "घर में बरसों से दो वक्त चूल्हा नहीं जला, पर ये लोग ब्याह की दावत करने के लिए तैयार हैं!"[18] विवाह न करने से क्या घर की इज्जत मिट जाती है ? ऐसे अनेकों प्रश्न आते हैं कस्तूरी के सामने। उसे दर्द इस बात का है कि कोई उससे विवाह न करने का कारण क्यों नहीं पूछता ? कस्तूरी को सती होने से डर लगता है। वह जानती है कि माँ द्वारा ढूँढा गया वर उसकी उम्र से कहीं अधिक बड़ा है। वह जानती है कि सती होना तो देवी की श्रेणी में शामिल कर देता है, लेकिन न होना जीवन को ही छीन लेता है। माँ द्वारा 'नठिया', 'हरजाई', 'कुभागी' कहलाती है कस्तूरी।

बेटी तो धान का पौधा होती है, जिसे समय रहते रोपना ही भलाई है। अगर न रूपे तब – "इस घर में बहन का इरादा भइया के संग सोने का हो गया होगा।"[19] कैसा कठोर वचन! क्या झेल पाती है कस्तूरी ? तमाम लानतें, तमाम आरोप, तमाम लांछन! क्या औरत की जिंदगी का सार यही है कि बिना उसकी मर्जी के उसे किसी भी व्यक्ति का हाथ थमा दिया जाए ? कस्तूरी पीतल की कलशियों की तरह बेच दी जाती है। सौदागर अपनी उम्र से 12 वर्ष बड़ा। ब्याह के नाम पर खरीदने-बेचने का धन्धा! मायका और ससुराल दोनों ही पक्षों ने जश्न मनाया, फायदा दोनों पक्षों को हुआ। व्यापारियों का

यह लेनदेन क्या कस्तूरी के जीवन को आबाद कर पाया ? महज 16 वर्ष की आयु में कस्तूरी का विवाह उसके जीवन को रंगों से भर पाया ? बिना उसकी मर्जी के हुआ अनमेल विवाह उसे उपहार स्वरूप वैधव्य दे जाता है। विवाह स्वेच्छा का प्रश्न है, लेकिन कस्तूरी की इच्छा तो इसमें शामिल ही नहीं। बावजूद इसके उसे विवाह करना पड़ता है। एक पुरुष का विवाह न करना उसे सन्तत्व की कोटि में खड़ा कर देता है। उसे 'ब्रह्मचारी' का पदनाम भी दे देता है। जबकि एक स्त्री की मनाही उसे कुलटा बना देती है। यदि विवाह हो जाता है, तो पति 'प्राणप्रिय' और पत्नी 'चरणों की दासी'। स्थितियाँ दोनों के लिए अलग-अलग क्यों है? वैधव्य तो औरत को पग-पग पर अपमानित करता है लेकिन यदि पुरुष विधुर हो जाता है, तब दोबारा उसकी शादी के जतन होने लगते हैं। कस्तूरी यह अपमान जिन्दगी के कई मोड़ों पर झेलती है। उसे 'अपशगुन' मानकर सगे भाई के बेटे तक की शादी में आमंत्रित नहीं किया जाता है।

विवाह कस्तूरी को एक ऐसे मोड़ पर लाकर खड़ा कर देता है, जहाँ उसे अपने संगी द्वारा सात जन्मों तक साथ निभाने के बजाए धोखा मिलता है। समाज द्वारा लगाए गए लाछंन उसे चैन से जीने नहीं देते। इस समाज में एक स्त्री के लिए विवाह के इतने बंधन क्यों हैं ? इन्हीं प्रश्नों से मुठभेड़ करती हुई 'कस्तूरी कुण्डल बसै' कस्तूरी के विवाह द्वारा समाज के सच को हमारे सामने उजागर करती है। आज भी स्त्री विवाह के लिए बाध्य की जाती है, कभी मर्यादा के नाम पर, तो कभी कुल की प्रतिष्ठा के नाम पर। जिस घर में लड़की पैदा होती है, उसे उसका पराया घर कहा जाता है। कहा जाता है कि पति का घर ही उसका अपना घर होता है। वास्तविकता तो यह है कि उसे अपनापन कहीं मिलता नहीं । स्त्री सदियों से अपना घर तलाशती आ रही है।

विवाह के द्वारा पुरुष अपनी पत्नी पर पूर्ण अधिकार जमा लेता है। उसकी देह से लेकर मन तक के सारे प्रश्नों पर पति का ही अधिकार होता है। और स्त्री ? वह तो पशु की भाँति हो जाती है, जिसकी लगाम पति के हाथ में होती है। अपनी अनिच्छा के बावजूद उसे हर रात पति की सेवा में तत्पर होना पड़ता है। परंपरा भी तो यही कहती है कि स्त्री का शरीर इस्तेमाल की चीज है। सेवा, समर्पण, संस्कार, परंपरा, रिवाज...से जूझती स्त्री को पुरुष की जागीर, उसकी संपत्ति बना दिया जाता है। "जब-जब स्त्रियों के मन ने, उनके जेहन ने अपने भीतर कुछ कुलबुलाता हुआ महसूस किया और उसे सिर्फ आँसुओं के हवाले करने से इंकार किया, तब-तब उन पर पहरे और गहरे हुए, शादी

मतलब एक कारावास। मालिक यानी जेलर, जिसकी इच्छा से यहाँ रहना, उठना, बैठना, चलना, मुस्कराना, रोना है।"[20]

पुरुष विवाह के द्वारा एक ऐसा शरीर चाहता है, जिसे वह जब जी चाहे नंगा कर सके। वह पुरुष की जरूरत भर है ? ब्याह का संस्कार पुरुष को तो सर्वाधिकार देता है, लेकिन स्त्री से उसके बचे-खुचे हक भी छीन लेता है। "चाहे पति के कारण रूपकुंवर को सती किया गया हो या नैना साहनी को तंदूर में झोंका गया हो। पुरुष की जिद है कि साम-दाम-दंड-भेद से औरत को काबू में करे, शिकार की तरह उसका इस्तेमाल करे।"[21] इज्जत, आबरू और मर्यादा के नाम पर स्त्री, जीवन में कदम-कदम पर छली जाती है। समाज यह जानता है कि वंश और परंपरा स्त्री के दम पर ही है, फिर भी उसके महत्त्व को नकारता है। विवाह के लिए पुरुष के रंग-रूप और उम्र को नहीं देखा जाता है, लेकिन स्त्री के लिए यही चीजें अनिवार्य शर्त बना दी जाती हैं। यह कैसा न्याय है कि सारे अधिकार पुरुष के लिए और कर्तव्य स्त्री के लिए। विवाह व्यवस्था की क्रूरता ही एक स्त्री को यह कहने के लिए विवश कर देती है – 'अगले जनम मोहे बिटिया न कीजो।'

विवाह के बदले कस्तूरी को सिवाय दुख के और कुछ हासिल नहीं होता। बिना उसकी मर्जी जाने उसे बेच दिया जाता है। उस पर भी खेलने-खाने के दिनों में ब्याह, कस्तूरी से उसकी मासूमियत ही छीन लेता है। असमय वैधव्य उसे अपशगुन बना देता है। समाज यह नहीं देखता है कि इसमें कस्तूरी का क्या दोष ? यदि कस्तूरी का विवाह उसकी मर्जी जानकर और सही समय पर किया गया होता, तो शायद ऐसी परिस्थितियाँ न आतीं।

कस्तूरी की बेटी 'मैत्रेयी' पर तो ब्याह करने की जिद सवार है – "माताजी, मेरा ब्याह कर दो।"[22] अकेलापन, तन्हाई उसे जीने नहीं देती। प्रेम, स्नेह तलाशती मैत्रेयी ब्याह करने की घोषणा कर देती है। अभाव, रिक्तता को भरने के लिए सात फेरों के बंधन में वह बंध जाना चाहती है। कस्तूरी का अपना अनुभव बेटी को ब्याह की अनुमति नहीं देता "मैं इसको उस खड्ड में नहीं गिरने दूँगी, जिसमें गिरकर औरत जीवन-भर निकलने को छटपटाती रहती है और एक दिन खत्म हो जाती है।"[23]

जिंदगी फूलों की सेज कहाँ ? जीवन के बीहड़ रास्तों से गुजरने के लिए मैत्रेयी को एक हमदर्द की तलाश है। एक ऐसा साथी, जो बस ड्राइवर द्वारा सीने को दबाने पर प्रतिकार कर सके, प्रिंसिपल के उठते हुए हाथों को रोक सके, जिससे वह अपनी

आपबीती कह सके। प्रेम तलाशती मैत्रेयी को कभी राघव याद आता है, तो कभी बाजबहादुर। कभी इसमें, तो कभी उसमें वह अपने जीवन साथी को देखती है। अपनत्व तलाशती मैत्रेयी का सूनापन प्यार की माँग करता है। तभी तो वह बिना कुछ सोचे नन्दकिशोर के साथ एक ही रजाई में सो जाती है "दोनों ओर स्पर्श, गन्ध और ध्वनियों के रंग बिखरने लगे। दो रजाइयों की जरूरत थी, अब एक भी ज्यादा पड़ने लगी। उष्मा बाँहों में थी ....।"[24]

मैत्रेयी उम्र के ऐसे पड़ाव से गुजर रही थी, जहाँ उसकी ये इच्छाएं स्वाभाविक ही थीं, पर कस्तूरी यह मानने को तैयार नहीं थी। मैत्रेयी पर लाज-शरम त्यागकर खसम माँगने का आरोप लग जाता है। मैत्रेयी कैसे समझाए लोगों को "कितने रास्ते खोजे। कितने पहाड़ धकेले...फिर भी सारी चेष्ठाएं निष्फल होने को हैं। कैसे बताए किसी को कि आँसू बहाने से जलन बुझती नहीं।"[25] मैत्रेयी का अकेलापन उसे प्रीति की बेल पर चढ़ाकर उसमें उलझाने को व्याकुल था। माँ का कड़ा अनुशासन बेटी को ब्याह करने की अनुमति नहीं देता। क्या मर्यादा यह है कि जो मन में है, उसे उजागर न करें। क्रोध में उबलती मैत्रेयी, गौरा से कह ही देती है -"माँ से कौन सी सीख लूँ ? यही न कि मर्द की जगह कोई औरत ढूँढ लूँ!"[26] मन मारने से इच्छाएं नहीं मरती कस्तूरी। कस्तूरी के अनुसार स्त्री-पुरुष का मेल पाप की जड़ है। यदि ऐसा होता, तो फिर वैधव्य के बाद गौरा के साथ समलैंगिक संबंध बनाना, यह क्या है ? कस्तूरी के लिए पुरुष की ओर देखना भी दलदल के कीचड़ में फँसना है, लेकिन स्त्री होते हुए स्त्री के ही साथ सोना, यह कैसा संबंध है ?

माँ का अनुशासन मैत्रेयी की अनुभूतियों को छीन नहीं सका। लड़की की जिद को कस्तूरी ने अपनी तरह घिसना भी चाहा, लेकिन यह कठोरता तो मैत्रेयी को ढहाने की बजाए सोचने को मजबूर करती है – "विधवा को प्यास नहीं लगनी चाहिए तो क्या लगती भी नहीं ? भूख-प्यास-अच्छे कपड़ों की ललक, सब निषेध है। निषेध तोड़ने की इच्छा नहीं हुई ? मन मतवाला हुआ, देह साथिनों में लीन होने लगी..."[27] बेटी की जिद के आगे माँ को नतमस्तक होना पड़ता है, लेकिन यहाँ परिस्थितियाँ आसान नहीं होतीं। मैत्रेयी के लिए वर ढूँढने में वे सारी समस्याएं आती हैं, जो एक स्त्री के जन्म को बोझ बना देती हैं। दहेज, जो विवाह की एक प्रमुख समस्या है, उसका भी कस्तूरी को बार-बार सामना करना पड़ता है। 'कस्तूरी कुण्डल बसै' हमारे सामने एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह भी रखती है कि क्या लड़की का वर देखने के लिए केवल पुरुष ही मान्यता प्राप्त हैं ?

कस्तूरी जहाँ-जहाँ जाती है, उससे कह दिया जाता है कि घर में कोई मर्द हो, उसे भेजना। कस्तूरी जहाँ जाती, तमाशा लग जाता कि लुगाई आई है, लुगाई। 'पाठक' (जिसके लड़के से मैत्रेयी के ब्याह की बात करने के लिए कस्तूरी उसके घर जाती है) के ये शब्द कितने दर्दनाक हैं "रोज-रोज आ जाती है। तूने यह घर खाला का घर समझ लिया है? झोला उठाया और चल दी! हमारी कोई इज्जत नहीं है क्या, कि शादी-ब्याह जैसा मामला लुगाई तै करे। जा यहाँ से, कोई मर्द-मानस हो, तो भेजना।"[28]

यह कैसी समाज की रीति है? जहाँ एक माँ को अपनी ही बेटी का रिश्ता तय करने की मनाही है। एक पुरुष और स्त्री में इतना भेद ? आखिर क्यों ? कस्तूरी बेटी के ब्याह के लिए अलीगढ़ से लेकर रूड़की और लखनऊ तक का सफर तय करती है। कहीं अपमान, तो कहीं तिरस्कार और कहीं स्त्री होने के दर्द को झेलती कस्तूरी समाज के यथार्थ को हमारे सामने रखती है। झाँसी के डॉक्टर का पिता कस्तूरी से सोने का वजन पूछता है और इंजीनियर का पिता डॉ. बद्रीप्रसाद कस्तूरी को रंडी कहता है। यह है समाज का सभ्य वर्ग! क्या लड़के को पैदा ही इसलिए किया जाता है कि आगे चलकर मुँहमांगी कीमत वसूल की जा सके ? यह सच है कि लड़की को बोझ मानने का एक बहुत बड़ा कारण है – ब्याह। जिसके कारण वह जन्म से मृत्यु तक परंपराओं, कर्तव्यों में जकड़ी कठपुतली बना दी जाती है। तमाम रीति-रिवाजों और मंत्रोच्चार के बीच सम्पन्न होने वाला यह संस्कार परंपरा से चले आ रहे कई झूठे नेगों को भी बढ़ावा देता है। मैत्रेयी का वैवाहिक संस्कार भी इन रीति-रिवाजों से अछूता नहीं है।

समाज के अुनसार "स्त्री विवाह वेदी के लिए जन्म लेती है, मरती है और स्वर्गधाम जाती है।"[29] पुरुष ने तो तय ही कर दिया कि विवाह ही स्त्री के जीवन का एकमात्र ध्येय है। मर्यादा और इज्जत का लबादा ओढ़े स्त्री आखिर कैसे जान पाती कि उसे आनंद की खान क्यों कहा गया ? अपनी ही देह का अपनी इच्छा से इस्तेमाल वह नहीं कर सकती। स्त्री की इसी देह को अपने प्रयोग के लिए पुरुष तमाम आसन, व्यायाम, कुश्ती और शिलाजीत का सेवन करते हुए दाँव-पेंच की तमाम तरकीबें सीखता है। इन सब में स्त्री कहाँ रहती है ? कोई नहीं पूछता। काश! किसी ने पूछा होता आखिर मुद्दा क्या है ?

विवाह संस्था पत्नी–धर्म की माँग तो करती है, लेकिन पति धर्म का नहीं। परंपरा भी यही कहती है कि पति के प्रति एकनिष्ठता ही स्वर्ग की सीढ़ी है। विवाह भावनाओं

का मिलन है, फिर इसमें एक की भावना सर्वोपरि कैसे हो सकती है ? यही प्रश्न मैत्रेयी अपने डॉक्टर पति से करती है। बेवजह कठघरे में कैद होना ही क्या विवाह की नियति है ? विवाह तो एक-दूसरे की इच्छा-अनिच्छा, मान-सम्मान और सुख-दुख के क्षणों में परस्पर सहयोग करने का नाम है, फिर एक स्त्री को पग-पग पर अपमानित करने की बात कैसे आ जाती है ? पुरुष चाहता है कि स्त्री अपना विवेक त्यागकर सबकुछ उसकी मर्जी से करे। विवाह के लिए जिस प्रेम और विश्वास की बात की जाती है, वह स्त्री को मिलता ही कहाँ है ? मिलता है एक ऐसा कारागार, जिसमें न तो वह अपनी इच्छा से हँस सकती है और न ही रो सकती है।

विवाह के द्वारा स्त्री के लिए 'पत्नी धर्म' के बाद मातृधर्म की बात की जाती है। यह मातृधर्म भी सिर्फ बेटे के प्रति, बेटियों के लिए किसी धर्म को निबाहने की क्या जरूरत ? बेटी 'नम्रता' का जन्म एक शोकदिवस में तब्दील हो जाता है। पति डॉक्टर है, जानता है कि क्रोमोसोम का संयोग क्या होता है ? एक्स और वाई की भूमिका भी उसे पता है। बावजूद इसके पति अपनी पत्नी के प्रति एक अजीब सा उपेक्षा भाव रखता है। समाज की सच्चाई यही है कि औरत जात के लिए कोई मान-महत्त्व का प्रश्न ही नहीं उठता, फिर चाहे वह अबोध-सी बच्ची ही क्यों न हो।

कहा जाता है कि सात फेरों के चमत्कार से व्यक्ति अपना अगला-पिछला सब भूल जाता है। वरण का यह माध्यम 'विवाह' दो हृदयों को आपस में बाँध जाता है। लेकिन मैत्रेयी का ब्याह उसे वह तृप्ति ही नहीं दे पाता, जिसके लिए वह अबतक भूखी-प्यासी थी। यहाँ तो पति का पौरुष, पत्नी के सहचारी-भाव को ही हर लेता है। यहाँ प्रेम की सहज क्रिया नहीं, पुरुष का अपने संदर्भ में मनमाना प्रयोग है। आपसी मेल-मिलाप से कहीं बढ़कर 'पवित्रता' के सवाल खड़े किए जाते हैं। उल्लास, लगाव और हमदर्दी की जो कामना मैत्रेयी ने की थी, क्या उसे वे सब मिल पाते हैं ? उसके कानों में तो पति द्वारा दिया गया शब्द 'गंवार' उसके अस्तित्व पर ही प्रश्नचिन्ह लगाता रहता है। यह है सात फेरों का सच! जो हर स्त्री पर भारी पड़ता है। "मन से ज्यादा तन का समर्पण और उसकी मौन आवृत्ति, कम नहीं ज्यादा से ज्यादा करनी होती है। इसमें छल और छद्म के लिए जगह नहीं। जैसे वैवाहिकै जीवन की यही कसौटी हो।"[30] पति के लिए ब्याह का अर्थ है – अपने तन-मन की जरूरतों को पूरा करने का अनुष्ठान। जहाँ प्रेम का, दाम्पत्य का, स्नेह का एक ही अर्थ हाता है – 'दैहिक पूर्ति'।

पति द्वारा पत्नी के सामने सेवा और समर्पण की शर्त रखी जाती है। 'करवा चौथ' – पति की लम्बी उम्र के लिए पत्नी द्वारा मनाया जाने वाला त्यौहार! कहा जाता है पत्नी यदि निर्जल-निराहार व्रत रखे, तो पति की उम्र दिनोंदिन बढ़ती जाती है। ब्याह का लाइसेंस 'रिन्यू' भी तो कराना होगा, इसीलिए बना दिया गया – 'करवाचौथ'। पत्नी व्रत भी रख लेती है, लेकिन पति की हैवानियत तो तब खुलकर सामने आती है, जब 'नैनसी' (मैत्रेयी की मित्र) का पति उसे ठीक करवाचौथ वाले दिन ही पीटता है। इस समाज में तो 'शाण्डिली' की दुहाई देकर बार-बार पति-धर्म की याद दिलायी जाती है। वह 'शाण्डिली', जो पति के सुख और आनन्द के लिए अपाहिज पति को अपने कंधे पर बिठाकर पति की इच्छानुसार उसे वेश्या के घर ले जाती है। इल्माना (मैत्रेयी की मित्र) जब तक पति के चरणों में अपना तन-मन निछावर करती रहती है तब तक समाज के लिए आदर्श नारी है। जब वह आत्मनिर्भर होने की बात सोचने लगती है, तब समाज कहता है – 'जॉब के बहाने....मतलब अश्लील हरकतें और 'एक्स्ट्रा मैरिटल रिलेशन'। परपुरुष से दोस्ती या फिर बात करना अर्थात् शौहर को धोखा देना।

विवाह के द्वारा स्त्री से उसकी स्वयं की पहचान छीनकर उसे केवल पति की 'पत्नी' बना दिया जाता है। मैत्रेयी को भी ब्याह के बाद लोग 'मंटी की बहू' कहते हैं, मैत्रेयी नहीं। वास्तव में मैत्रेयी ब्याह के बाद स्वयं भी अपना अस्तित्व भूल जाती है। उसे अपना 'स्वत्व' बहुत बाद में याद आता है, जब उसकी बेटी 'नम्रता' उसे बार-बार लिखने के लिए कहती है। किसी के नाम का महावर-मेंहदी लगाकर पत्नी सोचने लगती है कि "ये चिह्न पति के लिए आस्था, विश्वास और दिल निछावर करने के माध्यम बनेंगे।"[31] मैत्रेयी भी स्वयं को आकर्षक बनाने पर तुल जाती है। वह सोच लेती है कि पति को तन-मन से पाना है।

फेरों के समय, पति-पत्नी को एक-दूसरे के प्रति निभाया जाने वाला 'धर्म' बताया जाता है। कर्तव्यों के रूप में कसमें खायी जाती हैं, वादे किए जाते हैं, सहभागिता और एक-दूसरे के सम्मान के वचन दिए जाते हैं। लेकिन असलियत कुछ और ही होती है। पति स्वामी बन जाता है और पत्नी दासी। सहानुभूति का तो सवाल ही नहीं उठता, सीधे-सीधे आज्ञाएं दी जाती हैं। सम्मान के बजाए मिलता है – अपमान। चारों ओर घिरे भेड़ियों के शिकंजों से बचने के लिए मैत्रेयी ब्याह करने का प्रण करती है। अपनी युवा उम्र को वह सुरक्षा देना चाहती है। "मिला फिर सुरक्षा का गढ़, संरक्षण का किला, पवित्रता का मंदिर। शांति के नाम पर निश्चिन्तता की सन्नाटे से भरी गुफा। कैसा है

गुलामी का आनन्द, जिसमें पति और पत्नी की आज्ञा की इन्तजारी।"[32] जीवन के हर मोड़ पर पति के फैसले और हर बन्धन विवाहिताओं की नियति! मैत्रेयी पिया की प्यारी, अति प्यारी, लेकिन तभी तक, जब तक वह डॉक्टर पति के लिए मरती-मिटती रहे। अपनी इच्छा से पत्नी का सरकना भी गुनाह है। कुछ ऐसा ही है सात फेरों का सच!

## ¼x½ ifr-iRuh lEc/k % cur-fcxM+r fj'r

हमारी सांस्कृतिक परंपरा का अवदान मात्र इतना ही है कि विवाह स्त्री की नियति रहे और परिवार की चहारदीवारी उसका जीवन। सुरक्षा का दावा करता हुआ यह धार्मिक अनुष्ठान एक स्त्री को पति को परमेश्वर मानने को बाध्य करता है। कह दिया जाता है कि यही परमेश्वर स्त्री के जीवन को संरक्षित, संवर्धित करेगा और तभी जीवन की पूर्णता की प्राप्ति होगी। पति के अधिकार में होता है कि वह स्त्री का शिकार की तरह इस्तेमाल कर साम-दाम-दंड-भेद से उसे काबू में रखे। परमेश्वर की शरण में पत्नी के पांवों में बेड़ियाँ पहना दी जाती हैं, लेकिन पति आजाद घूमता रहता है।

"पुरुष आज भी मानता है स्त्री एक शरीर है। उसका शरीर सेवा और सेक्स का आधार है।"[33] छोटी-छोटी सुख-सुविधाओं या फिर परिवार का सपना, एक पत्नी को बार-बार सेक्स के लिए बाध्य करता है, जहाँ उसकी इच्छा होती ही नहीं। फिर भी मन मारकर करना पड़ता है। यह सच है कि वेश्याएं लालच में लुटती हैं, रखैल को सुरक्षा का झांसा देकर ठगा जाता है और पत्नी को सात जन्मों तक साथ देने का झूठा वादा कर उसे वशीभूत कर लिया जाता है। पवित्रता के घेरे में पत्नी को बार-बार कसा जाता है – "पति को क्या चाहिए, एक पतिव्रता। मन से ज्यादा तन का समर्पण और उसकी मौन आवृत्ति, बिना मन के उसका निंरतर समर्पण पवित्रता की परिधि में है। उसका चीत्कार करता मन, उलझी हुई परंपराओं को मानने से इंकार करता मन, खुद को जानने-समझने का मन, अपनी इच्छाओं को समझने का मन पवित्रताओं का खंडन करना है।"[34] जो सुख पत्नी को पति से इतर मिले, वह पवित्रता की सीमा को लांघता है। जब-जब स्त्रियों का मन आंसू बहाने के बजाए कुछ करने को कुलबुलाया, तब-तब पंरपराओं के लौह-कपाटों में उन्हें कैद कर दिया गया।

एक पत्नी के लिए कहीं नैतिकता उसका जवाब-तलब करती है, तो कहीं शुचिता इल्जाम देती है। पति नाम का प्राणी कदम-कदम पर उस पर हावी होने लगता है। डर लगता है स्त्री को, यह कहने में कि वह भी जीना चाहती है। एक टुकड़ा आसमान हमें भी दे दो। कैसे कहे कि वह पति की संपत्ति, उसकी जागीर नहीं, सेवा-समर्पण का पुतला नहीं, बल्कि जीती-जागती इंसान है। पत्नी इस्तेमाल की ऐसी चीज मानी जाती है, जिसे अपनी कर्मेद्रियों और ज्ञानेंद्रियों को पति के चरणों में समर्पित करना पड़ता है। "आज्ञाकारिणी, अनुगामिनी, जिसे अर्द्धांगिनी भी कहा गया। धर्मपत्नी से इतर जहाँ भी

उसका वजूद रहा, वहाँ वह रक्षिता (रखैल), वेश्या (रंडी) के नाम से जानी गई।"[35] उसका तो नैतिक कर्तव्य है कि "वह पति के ड्राइंग रूम की शोभा भी बने और पलंग की मखमली बिछावन भी।"[36]

कस्तूरी का अनमेल विवाह क्या उसे पत्नी-सुख दे पाता है ? पति पैसे देकर उसे खरीद तो लाता है, लेकिन पति होने का दायित्व निभा पाता है ? कस्तूरी और हीरालाल का रिश्ता झूठ की नींव पर खड़ा होता है, जहाँ विश्वास नहीं, अफसोस और पछतावा है। "सुख पति के जमाने में क्यों नहीं था' इस सवाल से कस्तूरी अक्सर जूझती है। स्त्री के जीवन में बचपन से लेकर मुत्युपर्यंत पुरुष का साया ही सुख माना जाता है, जबकि उसको कभी सुरक्षा तक महसूस नहीं हुई। क्या उसी के लिए मान्यता झूठी पड़ गई या मान्यता केवल मानने की बातें हैं ?"[37]

कस्तूरी के अपने अनुभव कहते हैं कि पति विवाह के माध्यम से पत्नी पर ऐसी कब्जेदारी कर लेता है, कि पति की मर्जी के बिना औरत का घर से बाहर कदम रखना उन्हें कलंक से ढक देता है। कस्तूरी के पति हीरालाल को भी यह रास नहीं आता है कि उनकी पत्नी बिना उनकी अनुमति के हवेलीवाली के साथ गंगा नहाने कैसे चली गई ? पति अपनी पत्नी को समझने के बजाए, कठघरे में खड़ा कर देता है। "रेशम कुँवर की कहानी का ढ़ोंग! सती कथा का पाखंड, तुम जैसी औरत।"[38] गंगाजली लेकर पराए मर्द से उसके संबंध को स्पष्ट करने को कहा जाता है। पति यह नहीं देखता कि जिस लगान के कारण वह भागा-भागा फिर रहा है, वह जमींदारनी के माध्यम से उसी लगान को माफ करने का प्रयास कर रही है। स्त्री का पराए मर्द से बात करना भी उसे व्यभिचारिणी बना देता है और पुरुष का दूसरी स्त्री के साथ संभोग भी उसे पौरुषत्व दिलवाता है। अन्याय और अत्याचार की हद तो तब हो जाती है, जब हीरालाल उसी रात अन्य स्त्री के साथ गुलछर्रे उड़ाते देखे जाते हैं, जिस रात बेटे का शव दफनाया गया है। इसे कलियुग कहें या पुरुष की हवस!

कस्तूरी को अपने पति से क्या मिला ? सिवाए रुदन, अत्याचार, बेबसी के, क्या वह जीवन के सुख को पहचान पायी ? सात फेरों के वचनों में से हीरालाल शायद ही एक भी वचन अपनी पत्नी के प्रति निभा पाया हो। मोतीझला की बीमारी से ग्रस्त होकर उसकी मौत हो जाती है और पति-पत्नी के ये संबंध कस्तूरी के वैधव्य में तब्दील हो जाते हैं।

कस्तूरी की बेटी 'मैत्रेयी' के पति कहने को तो डॉक्टर हैं, लेकिन विचारों से 'मरीज' जान पड़ते हैं। बात-बात पर पत्नी पर शक करना, उनकी दिनचर्या में शामिल है। ऊपर से आधुनिक लेकिन भीतर से इतने पिछड़े हुए। ताज्जुब होता है कि वह अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान में डॉक्टर के पद पर आसीन हैं। इतना पढ़ा-लिखा होने के बावजूद चली आ रही परंपराओं से स्वयं को इतना जकड़े हुए हैं कि उन्हें त्यागने का नाम ही नहीं लेते। संस्कारों के नाम पर वह पत्नी को कभी तन से प्रताड़ित करते हैं, तो कभी मन से। पत्नी उन्हें गंवार नजर आती है, इसलिए कभी उसके रहन-सहन, तो कभी पहनावे पर प्रश्नचिह्न उठाना उनकी पुरुषवादी मानसिकता को उजागर करता है। पत्नी यदि किसी अन्य पुरुष से बात कर ले, तो शक की सुई इतनी घूम जाती है कि पत्नी को बदचलन तक कहना उन्हें गलत नजर नहीं आता। उनकी नजर में, पत्नी का क्षेत्र और सीमा घर की चहारदीवारी के भीतर है। बावजूद इसके वह पत्नी की सफलताओं पर गर्व भी महसूस करते हैं। एक ओर पत्नी की कामयाबी उन्हें उल्लसित करती है, तो दूसरी ओर पत्नी के सम्पर्क हद से ज्यादा सशंकित बना देते हैं।

पति, पत्नी को 'मॉडर्न' तो बनाना चाहता है, लेकिन सिर्फ अपने लिए। मैत्रेयी अपने समर्पण और सद्भावना में कोई कमी नहीं आने देती, फिर भी जिंदगी के उल्लास और उत्साह के लिए उसे पति का मुँह ताकना पड़ता है। पति के लिए प्रेम का कोई मतलब नहीं, उसके लिए तो दाम्पत्य का अर्थ है – मात्र और मात्र शारीरिक संबंध। पति के अनुसार मैत्रेयी का डॉ. सिद्धार्थ से जुड़ाव यौन-संबंध का ही परिणाम है, लेकिन मैत्रेयी के लिए भावना का भावना से मेल। डॉ. सिद्धार्थ के साथ नाचकर, मानो वह पति को बताना चाहती थी कि यह भी मेरे जीवनमूल्यों का हिस्सा है। पुरुष नहीं समझता कि पत्नी, यदि पति द्वारा दिए तिरस्कार और अपमान के विष को पी सकती है, तो अपने सम्मान और अपने हक के लिए उठ खड़ी भी हो सकती है। पत्नी की हरेक इच्छा पर पुरुष अपना स्वामित्व चाहता है। उसकी जिन्दगी के प्रत्येक फैसले पर पति अपना निर्णय देना चाहता है। बात जब पति की अपनी जिंदगी की आती है, तो पत्नी को दूर छिटक देता है। पति कुछ भी करे, वह सही होता है और पत्नी हमेशा गलत ठहरा दी जाती है।

मैत्रेयी और उसके पति के बीच फाँक इसी बात पर रहती है कि वह क्या देखना चाहती है और वे क्या दिखाना चाहते हैं ? पति चाहते हैं कि मैत्रेयी अपनी इच्छा से नहीं, बल्कि पति की इच्छा से कहीं आना-जाना करे। उन लोगों से ही बात करे, जिनसे बात करने में पति को कोई ऐतराज न हो। मैत्रेयी अपने पति के लिए रेशमी गुड़िया भी बनती

है। वह उस जिंदगी को भुला देती है, जो धींवर और काछिनों के बीच बीती थी। पराधीन, पराश्रित सी, वह पति के लिए लोगों से लड़ती है। पति के जीवन को अपने से पृथक देखना, उसे सही नहीं जान पड़ता। इल्माना का यह कहना काफी हद तक सही है "मिसेज शर्मा, आप घूँघट और मैं बुर्का पहनें तो जरूर वे हमें नेक बीवियों की निगाह से देखेंगे। बस घर से बाहर निकलना ही अजीब है।"[39]

मैत्रेयी का अपनी इच्छा से कुछ करना उसे पति द्वारा कठघरे में डाल देता है। जबकि वह पति की इच्छा का पूरा ख्याल रखती है। जानती है कि पति को लेखन पसंद नहीं, इसलिए पति के सामने न लिखकर, जब वे ड्यूटी पर चले जाते हैं, तब लिखती है। लिखते समय यदि पति आ जाएं, तो जल्दी से कहीं छुपा भी देती है, ताकि पति का मन खिन्न न हो। ऐसा इसलिए नहीं है कि मैत्रेयी अपने पति से डरती है, बल्कि इसलिए क्योंकि वह पति का 'मान' करना जानती है। पति के प्रति अपने सारे दायित्वों कर्तव्यों को निभाने के बावजूद, पति उसे जीने का हक तक नहीं देना चाहता। यहाँ भी मुख्य मुद्दा देह का ही है। मालिक पत्नी की जवानी से अक्सर ही दहशत में रहता है। उसे डर इस बात का रहता है कि उसके शयन की रम्भा कहीं और न चली जाए। कहते हैं कि पति-पत्नी का एक दूसरे के प्रति वफादार होना जरूरी है। पत्नी तो पति के प्रति ईमानदारी, निष्ठा का पालन करते हुए पत्नी–धर्म निभाती है, लेकिन पति ? वह तो अपने दायित्वों को संदेह के घेरे में कैद कर 'पति–धर्म' से ही निजात पा लेता है।

पत्नी द्वारा किसी लेखक की तस्वीर को लगाना अर्थात् अधर्म को फैलाना। मैत्रेयी को घर का एक कोना तक नसीब नहीं, जहाँ वह अपने प्रिय लेखक-रेणु और राजेन्द्र यादव की तस्वीर लगा सके। पत्नी का रचनात्मक लगाव और यह तस्वीर ही पति के लिए 'अह्म' का विषय बन जाती है। "लगता है पति की जमीन छेंक रही है तस्वीर....ऐसा क्या है इस फोटो में ? सक्रियता की पुकार, गतिशीलता का जज्बा और मेरे पति को घर से बाहर निकलनेवाली स्त्रियाँ पसंद नहीं।"[40] मैत्रेयी के ये शब्द, पत्नी के प्रति पति के व्यवहार को स्पष्ट कर देते हैं। परपुरुष की तस्वीर तक पति को बर्दाश्त नहीं, जबकि मैत्रेयी के लिए राजेन्द्र यादव एक गुरु, पथप्रदर्शक से बढ़कर और कुछ नहीं। पति द्वारा तस्वीर को टुकड़े-टुकड़े कर देना! यहाँ महज तस्वीर ही नहीं टूटती है, बल्कि मैत्रेयी की भावनाएं भी आहत होती हैं। तस्वीर का तोड़ना पत्नी का अपमान, अनादर नहीं तो और क्या है ? "पति द्वारा गुलाम बना ली गई पत्नी, छटपटाए, यह भी जुर्म है, वफादारी

दिखाए, वह साजिश है। 'प्रेम की शिद्दत और मधुरता' किसी हुकूम के गुलाम से नहीं मिल सकती..।"[41]

मैत्रेयी और डॉ. रमेशचन्द्र एक ऐसे पति-पत्नी के रूप में हमारे सामने आते हैं, जिनमें कभी प्यार, तो कभी तकरार चलती रहती है। पति, पत्नी का अपमान करता है, लेकिन पलभर में 'डार्लिंग' कहकर उसे मना भी लेता है। वह 'श्रीराम' बनकर सीता को बनवास नहीं देना चाहता, बल्कि 'हनुमान' बनकर पत्नी को खुश करना चाहता है। डॉ. शर्मा पत्नी की तरक्की पर न्यौछावर होना तो जानते हैं, लेकिन पत्नी की किसी अन्य से घनिष्ठता उन्हें रास नहीं आती। पति को संबोधित करते हुए मैत्रेयी ने लिखा है – "आखिर तुम क्या हो मेरे ? दोस्त या दुश्मन ? सच मानों मैं कभी स्वाभाविकता की नजर से देखती हूँ, तो कभी आश्चर्यजनक भूमिका में पाकर कौतूहल से भर जाती हूँ। क्या तुम्हारी चतुराइयाँ ऐसी हैं, जो मुझे दुखित और चकित करती हैं। ?"[42] डॉक्टर साहब के लिए पत्नी कभी 'मोहब्बत जानम', तो कभी पति के निर्देशों का पालन करने वाली 'दासी'। पत्नी, पति की डार्लिंग तो बन जाती है, लेकिन तभी, जब वह अपने अस्तित्व को पति की बाँहों में सौंपती हुई आगे बढ़े।

¼?k½ L=h d¡ ifr i¡#"k nf"Vdk.k

'कस्तूरी कुण्डल बसै' और 'गुड़िया भीतर गुड़िया' के माध्यम से मैत्रेयी पुष्पा हमारे सामने पुरुषवादी मानसिकता को उजागर करती हैं। एक स्त्री को मात्र शरीर मानकर यह समाज उसके साथ तरह-तरह के अमानवीय व्यवहार करता है। "स्त्री पैदा नहीं होती, बल्कि उसे बना दिया जाता है।"[43] उसे देवी तो माना जाता है, लेकिन क्या उसका सम्मान भी किया जाता है ? "वह तो पैर की जूती है। क्या वह मानव औरत नहीं ? शरीर के अलावा उसकी और कोई पूँजी नहीं ? वह पुरुष के भोग की वस्तु है, इसके अलावा कुछ भी नहीं।"[44]

यह सच है कि पुरुष को उसकी सम्पूर्णता में देखा जाता है और स्त्री को हिस्सों में बाँटकर। पत्नी, रखैल और वेश्या के अलावा स्त्री के अन्य किसी संबंध को तो यह समाज मानता ही नहीं। जब औरत को संरक्षण देकर सामाजिक स्वीकृति दी जाती है, तो वह 'पत्नी' कहलाती है। पुरुष जब उसे संरक्षण तो देता है, लेकिन अपना नाम नहीं, तब वही औरत 'रखैल' बना दी जाती है। रात के अंधेरे में अपनी हवस पूरी करने वाला पुरुष किसी अन्य रूप में परिवर्तित नहीं होता, वह 'पुरुष' ही कहलाता है। जबकि स्त्री, पुरुष द्वारा अपनी सुविधानुसार कई नामों और रूपों में परिवर्तित कर दी जाती हैं। 'वेश्या' तो समाज के लिए खुला मैदान है। कोई भी उस 'वेश्या' कही जाने वाली औरत के शरीर को रौंद सकता है। यहाँ न संरक्षण है, न सामाजिक स्वीकृति। वाह रे समाज! जो औरत, पुरुष के शरीर को मन मानकर भी प्रतिदिन सहती है, उसे कुलटा बना दिया जाता है। झूठी मान-मर्यादा का लबादा ओढ़कर यह पुरुष ही उस औरत से संभोग के लिए अंधेरा कमरा तलाश करता है, जहाँ उसे कोई देख न सके।

"इस समाज में स्त्री की न अपनी कोई जाति है, न नाम और न अपनी इच्छा। हर जाति या नस्ल ने एक-दूसरे की स्त्रियों को लूटा, छीना या अपनाया है। वह आजन्म किसी की बेटी, किसी की पत्नी और किसी की माँ के रूप में ही जानी जाती है। उसी से उसका पद और प्रतिष्ठा बनते हैं, यहाँ तक कि पर्दे के नाम पर उसका चेहरा भी उससे छीन लिया गया है। वह सिर्फ एक बेनाम, बेचेहरा और बेपहचान औरत है।"[45] पुरुष यह तो कहता है कि दुनिया की सारी खूबसूरत बहू-बेटियाँ मेरे नयन-सुख के लिए और मानो मेरे ही भोग के लिए हैं, लेकिन मेरी ही बहू-बेटी पर यदि कोई नजर डाल दे, तो घोर अनर्थ! यदि भूलवश वह किसी अन्य पुरुष का स्पर्श पा जाती है, तो परित्यक्ता

बना दी जाती है। जूठी मानकर उसे अपराधी बना दिया जाता है। स्त्री की स्थिति पर विचार करते हुए रघुवीर सहाय की यह कविता याद आती है-

"पढ़िए गीता
बनिए सीता
फिर इन सबमें लगा पलीता
निज घर-बार बसाइए
होंए कटीली
लकड़ी सीली
आँखें गीली
घर की सबसे बड़ी पतीली
भर-भर भात पकाइए।"[46]

स्त्री की अपनी दुनिया कहाँ ? अबला, असहाय कही जाने वाली औरत को पुरुष के बिना अधूरी करार दिया जाता है। उस पर भी वर्जिनिटी, कौमार्य की तरह-तरह की शर्तें! 'नारी की झाँई पड़त, अंधौ होत भुजंग' या फिर 'जिमि स्वतंत्र होइ बिगरहिं नारी' कहने वाला यह समाज नारी की स्वतंत्रता को उसकी ऐय्याशी मानता है। समाज उन्हें आजादी न देकर चाहता है कि वे चहारदीवारी में बंद रहें और पुरुषों की थकान मिटाने के लिए मनोरंजन का साधन बनें। पुरुषों के लिए 'फ्री सेक्स' की बात की जाती है और स्त्रियों के लिए बलात्कार। प्रमोशन, नौकरी या अन्य कोई सुविधा स्त्री को देने की पहली शर्त होती है – सेक्स। बाकायदा खरीदकर एक निर्जीव वस्तु की तरह उनका इस्तेमाल किया जाता है।

अक्सर यह देखा जाता है कि जब एक पुरुष किसी स्त्री से मिलता है तो उसकी दृष्टि उसके अंगविशेष तक ही सीमित होती है। फिर चाहे वह ऑफिस का बॉस हो या सामान बेचता दुकानदार। नजर सभी की एक ही होती है। सभी उसे नंगा देखना चाहते हैं। कोई भी स्त्री शायद ही इससे बच पायी हो। चाहे वह कस्तूरी हो या फिर मैत्रेयी।

"पुरुष के मुकाबले कोमल तन लेकर जन्म लेने वाली स्त्री को कमजोर मन की स्वामिनी भी क्यों मान लिया जाता है ? जबकि उसके शरीर को कोई भी अतिरिक्त सहूलियत नहीं मिलती। कठोर दैहिक श्रम से गुजरती हुई यह गर्भ और प्रसव जैसे कठिन कार्यों को पार जाती है। अपने खून को दूध में परिवर्तित करने की नैसर्गिक प्रवृत्ति द्वारा मनुष्य के बच्चों को पालने और विकसित करने का शौर्य दिखाती है।"[47] फिर भी उसे न्याय नहीं मिल पाता। तर्क दिया जाता है कि स्त्री के पास विचार नहीं होते। इस

ओर शायद ही ध्यान दिया जाता है कि जितने अनुभव एक स्त्री के पास होते हैं, उतने अन्य के पास नहीं। अनुभवों से ही तो विचारों का जन्म होता है। बात जब बदनामी की आती है, तो उसे स्त्री के सिर मढ़ दिया जाता है। अनारा गुप्ता या फिर मेरठ की प्रियंका जैसी लड़कियाँ यदि शारीरिक धंधों में लिप्त पायी जाती हैं, तो उनके मुख पर कालिख पोत दी जाती है। सवाल यह उठता है कि क्या उसमें पुरुष शामिल नहीं थे ? बिना पुरुष संसर्ग के ये दृश्य कैसे बन सकते हैं ?

पुरुष चाहता है कि स्त्री एक पालतू पशु की भाँति हो, जिसे अपनी इच्छानुसार दौड़ाया जा सके। वह जन्म से मृत्यु तक अपनी इच्छा से नहीं, दूसरे की इच्छा से जीती है चाहे पिता हों या पति। मन की मर्जी से ब्याह कर नहीं सकती, क्योंकि पिता द्वारा दिए गए संस्कार इसकी गवाही नहीं देते। पति को परमेश्वर मानने के सिवाए अन्य कोई विकल्प उसके सामने खड़ा ही नहीं किया जाता। अपनी इच्छा से वह अपने ही पति के साथ शारीरिक संबंध नहीं बना सकती, क्योंकि यह तो पति की इच्छा पर निर्भर करता है कि वह किस प्रकार उसका प्रयोग करे। स्त्री जाए तो कहाँ जाए ? यदि वह रोती है तो ढोंगी कहलाती है, हँसती है तो उसे मरजाद में बाँध दिया जाता है। सिर उठाकर अपने स्वाभिमान के साथ चलती है, तो घमंडी कहलाती है। यदि सिर नीचे करके चलती है, तो गंवार कहलाती है। पुरुष उसी स्त्री को संस्कारी मानता है, जो खामोशी से हर बात सुने, सेवा करे, घर की सारी जिम्मेदारियों को भली-भाँति निभाए। कुल मिलाकर खामोश कठपुतली। "केवल प्रजनन की प्राकृतिक क्रिया, केवल मासिक धर्म का सदमा, केवल पुरुष के लिए जागना-रोना ही उसका धर्म है, इसीलिए आवेग-संवेगरहित स्त्री श्रेष्ठ मानी जाती है।"[48] यह है लोकतंत्र, जहाँ स्त्री को नागरिक का दर्जा देकर वोट देने का तो अधिकार है, लेकिन मनुष्य के रूप में जीने का नहीं। सेवा, श्रम और सेक्स को स्त्री-जीवन का आधार -स्तंभ बना दिया जाता है।

पति की मृत्यु के बाद कस्तूरी को उसके ममिया ससुर 'विधवा कर्तव्य' किताब लाकर देते हैं। विधवाओं का तो इतिहास ही यही रहा है कि पति की याद में अपने शरीर को तिल-तिलकर जला दें। यदि ऐसी-वैसी कोई इच्छा आए तो कुआँ में डूबकर मर जाएं। पति यदि विधुर होता है, तो उससे नहीं कहा जाता है कि वह 'विधुर-कर्तव्य' किताब पढ़े और न ही ऐसी कोई किताब बनायी गयी है। वह पत्नी की मृत्यु के बाद दूसरी स्त्री का भोग कर सकता हैं। वहीं स्त्री को सती बनने की प्रेरणा दी जाती है। क्या स्त्री की अपनी कोई इच्छा नहीं ? जब तक जीवन रहता है, शरीर की भूख-प्यास मर तो

नहीं जाती। फिर पति की मृत्यु के बाद उसे मरने के लिए क्यों कह दिया जाता है ? इस समाज में उसे मनुष्य तो क्या, औरत भी माना जाता है ? वह तो राँड है, विधवा है, बस। तभी तो कस्तूरी को बार-बार उसके विधवापन का अहसास दिलाकर उसे सोचने को मजबूर किया जाता है। वह किसी पुत्र की माँ नहीं है, इसलिए निपूती कही जाती है। अपने दम पर वह पढ़ती-लिखती तो है लेकिन यह समाज उसे सत्यानाशिनी मानता है। "पुरुषों जैसे काम करने से पुरुष जैसी नहीं मान ली जाती स्त्री।"[49]

अकेली औरत को तो तमाम मनचले पकड़ते हैं, कुछ ऐसा ही महिला मंगल में काम करने वाली नर्मदा के साथ होता है। कस्तूरी को भी पुरुष प्रधान समाज के बीहड़ रास्तों से गुजरना पड़ता है, जहाँ उसके शरीर को देखा जाता है। कस्तूरी बचने की कोशिश करती है, लेकिन इस बचाव में पुरुषवादी सोच उस पर हावी होने की कोशिश करने लगती है। क्या कस्तूरी इसी पुरुष प्रधान समाज से बचने के लिए खादी के कपड़े पहनती है, कोई साज-शृंगार नहीं, सूनी-बिना काजल की आँखें, फटे हाथ-पाँव, खुश्क होता चेहरा, किसी चिकनाई का इस्तेमाल नहीं। यह विधवा का कर्तव्य है या फिर समाज की निर्ममता ? जिसके कारण एक स्त्री स्वयं को कठोर बनाने को मजबूर होती है। उसके जीवन को जिंदगी नहीं, अभिशाप मानने को विवश किया जाता है, तभी तो कस्तूरी कहती है – "विधवा जीवन में जीवन जैसा कुछ नहीं होता। उजड़े ठूँठ पेड़ों के झुंड को कोई बाग मानेगा ?"[50]

समाज मानता है कि गृहस्थी संभालने के अतिरिक्त औरत का अन्य कोई धर्म नहीं। तभी तो तत्कालीन मुख्यमंत्री द्वारा कस्तूरी जैसी तमाम स्त्रियों की सर्विस खत्म कर दी जाती है, "औरतों का दफ्तरों में, रूरल डेवलपमेंट डिपार्टमेंट में क्या काम ? चलो मास्टरनी, नर्स, मिडवाइफ या जनानी-डॉक्टर हो जाओ। नहीं तो घर में रहो। घरेलू काम कौन करेगा ?"[51] विकास के कार्यों को यदि स्त्री संभाले, तो उनके पद को ही समाप्त कर दिया जाता है। यह है पुरुषवादी मानसिकता, जो स्त्री को समाज में सक्रिय हिस्सेदारी निभाने ही नहीं देना चाहता। जिन्दगी भर जिस महिलामंगल के विकास के लिए कस्तूरी पूरी जी-जान से जुटी रही, उसे चुटकीभर में समाप्त कर दिया जाता है। देश की आजादी क्या केवल मर्दों की आजादी का पैगाम लेकर आयी थी, क्योंकि स्त्रियाँ तो अब भी गुलामी की जंजीर में जकड़ी हैं। औरत की न जमीन होती है, न जल, न हवा, न इज्जत, न आबरू। मर्द जब चाहें अपनी इच्छा से बख्श दें या उतार लें।

यह है पुरुष प्रधान समाज, जहाँ स्त्रियाँ गायों की तरह लाठियों से हाँक दी जाती हैं और खूटों से बाँध दी जाती हैं। पति के लिए 14 वर्ष वनवास में बिताने वाली सीता को भी अग्निपरीक्षा से गुजरना पड़ा। घर में बैठे 'पति' नामक पुरुष से लेकर शासन सत्ता संभाल रहे 'नेता' नामक पुरुषों द्वारा स्त्री की अग्निपरीक्षाएं आज भी जारी हैं। औरत जानती है कि जीना है तो लड़ना होगा। दुख इस बात का है कि यह लड़ना भी मर्द ही तय करेगा कि कैसे और किस दिशा में उन्हें लड़ना है ? यदि अपनी इच्छा से वे लड़ती भी हैं, तो शिकंजों में कस दी जाती हैं। पुरुष स्त्री के हुस्न की नुमाइश तो चाहता है, लेकिन उसी हुस्न की शक्ति का वह परिचय नहीं चाहता।

मैत्रेयी भी पुरुषों की तीव्र और घिनौनी नजरों से कहाँ बच पायी ? सड़क पर चलने वाले ड्राइवर से लेकर इंटर कॉलेज के प्रिंसिपल तक के लिए वह सिर्फ देह है। ए.डी. ओ., बी.डी.ओ., दफ्तर के क्लर्क तक उस पर हाथ आजमाने की कोशिश करते हैं। स्कूल जाती बच्ची मैत्रेयी अपने ही सहपाठियों द्वारा डरा दी जाती है। कभी उस पर छीना-झपटी की जाती है, तो कभी उसे चमारिन कहकर उसका मखौल उड़ाया जाता है। स्त्री जन्म लेते ही औरत हो जाती है। बस का ड्राइवर उसे 'साली' कहकर उसके साथ अश्लील हरकतें करता है। डी. बी. इंटर कॉलेज के प्रिंसिपल साहब महज 14-15 वर्ष की लड़की के साथ संभोग का सुख प्राप्त करना चाहते हैं। प्रिंसिपल से मैत्रेयी किसी तरह छुटकारा पाकर बच निकलती है। "कामान्ध आदमी जब अपने मकसद में मात खाता है, तो वह स्त्री के लिए सबसे ज्यादा खूँखार हो जाता है।"[52] दोष मैत्रेयी के सिर मढ़ दिया जाता है। जो प्रिंसिपल स्वयं ही चरित्रहीन है, वह मैत्रेयी पर कॉलेज के लड़कों के साथ ऐय्याशी करने का आरोप लगाकर उसे चरित्रहीन करार देता है। गोश्त मंडी का कासिम कसाई तक उस पर हाथ आजमाने की जुर्रत करता है। अलीगढ़ में जिस घर में उसकी पढ़ाई का प्रबंध किया जाता है, उस घर में आने वाला श्रीप्रकाश मैत्रेयी के साथ एक रात गुजारना चाहता है। यह है पुरुष सत्ता, जहाँ प्रत्येक मर्द, औरत के साथ सोना चाहता है, फिर चाहे वह बच्ची हो या युवती। जब वह शारीरिक संबंध बनाने के लिए राजी नहीं होती है, तो उसके नाड़े को खोलकर लिंग देखने की बात की जाती है। स्त्री का अस्वीकार उसके स्त्रीत्व को ही छीनने की कोशिश करने लगता है। मर्द यह चाहता ही नहीं कि स्त्री इंकार करे।

मैत्रेयी के साथ पढ़ने वाली बी. ए. की छात्रा निशि खरे आत्महत्या करने को विवश हो जाती है। वह अपनी उम्र से कहीं बड़े एक विधुर व्यक्ति के साथ विवाह नहीं

करना चाहती थी। वह पढ़-लिखकर आत्मनिर्भर बनना चाहती थी और अपने मन के लड़के से शादी करना चाहती थी, परंतु पिता को यह मंजूर नहीं। घुट-घुटकर जीने के बजाए वह अपने जीवन को ही मौत के घाट उतार देती है। यहाँ भी दोष स्त्री पर ही आता है और निशि खरे नाम की लड़की बदचलन करार दी जाती है।

कैसा समाज है यह जहाँ अपनी ही पत्नी को दूसरे मर्दों के हवाले सौंप दिया जाता है। शरीर के इस धंधे के माध्यम से वे नौकरी पाते हैं, क्लीनर या कंडक्टर बनते हैं, बदले में –"पाँव पीटती औरत के पाँव खटिया के पायों से बाँध दिए थे। हाथों को डोरी से कस दिया। उसका आदमी ही उसके मुँह में कपड़ा ठूँसे बैठा था और मालिक लोग बारी-बारी...।"[53] औरतें चीख-चीखकर अपनी जान भी देती हैं, लेकिन समाज परवाह नहीं करता। शगुन को उसका ही पति वेश्या बनने को मजबूर करता है। ऐसी ही कई निशि और कई शगुन आज भी पुरुषसत्ता की जंजीरों में कैद होकर जीने को विवश हैं। अपने अधिकारों के लिए लड़ती स्त्री यदि मर भी जाए, तब भी समाज के लिए यह मामूली चीज है। देश की रक्षा के लिए लड़ने वाले सिपाही को तो 'शहीद' कहा जाता है, लेकिन अपने ही शरीर की रक्षा के लिए लड़ने वाली स्त्री की शहादत को संदेहों के घेरे में कस दिया जाता है।

"स्त्री को लेकर कहीं नैतिकता जवाब तलब करती है, तो कहीं शुचिता इल्जाम देती है, पवित्रता के क्षरण का अभियोग सिर चढ़कर बोलता है। विवाह-वर्चस्व कदम-कदम पर हावी है। घरेलू हिंसा अपनी हकदारी जमाती हुई सामाजिक सम्मान के साथ मिलीभगत की तरह जुड़ी है।"[54] यह सच है कि स्त्री समाज की रचनाकार है। जिन्हें 9 माह गर्भ में रखकर, वह इस दुनिया में लाती है, उंगली पकड़कर चलना सिखाती है, वही उसकी जिन्दगी का हिसाब-किताब माँगने लगते हैं। उसके चाल-चलन पर सवाल खड़ा करने लगते हैं। स्त्री प्रेम है, शक्ति है, साथ ही संयम और विश्वास भी है। ये सारी उपमाएं पुरुष के लिए स्त्री के उत्सर्ग को दिखलाती हैं। जब स्त्री खुद से प्रेम करने लगती है, तो वह गलत ठहरायी जाती है। जिस स्त्री के जन्म से ही घरों में उदासी का आलम छाने लगता हो, समाज में उसकी स्थिति की कल्पना सहज ही की जा सकती है। अगर ध्यान से देखा जाए, तो जन्म लेने वाले बच्चा और बच्ची में क्या अंतर होता है ? वे एक जैसा हँसते हैं और रोते हैं। फिर इतना भेद क्यों ? कस्तूरी और मैत्रेयी के जन्म को भी यह पुरुष समाज भार मानता है।

'नैतिकता' नाम के शब्द ने स्त्रियों की जिंदगी को चारों ओर से घेर रखा है। नैतिकता यह है कि स्त्रियाँ, पुरुषों द्वारा बनायी गई सीमा में रहे ? नैतिकता यह है कि औरत की सक्रियता-निष्क्रियता का मर्द नियंता बने ? वह नहीं कह सकती कि मुझे भूख लगी है, प्यास लगी है.....। तभी तो मैत्रेयी सुहागरात के दिन ही पति द्वारा संदेहों के घेरे में खड़ी कर दी जाती है। स्त्री द्वारा "रतिक्रिया में रुचि लेने का अर्थ होता है कुलटा होना और कुलटा का बसर किसी सद्‌गृहस्थ के यहाँ नहीं होता।"[55] यहाँ मिलन का शुभ मुहूरत नहीं, बल्कि पत्नी का मन मारते रहना ही पति का ध्येय है। मैत्रेयी निर्दोष है, फिर भी उसे सजा दी जाती है, आखिर क्यों ? सच जानकर भी डॉक्टर अपनी पत्नी से क्षमा नहीं माँगता, क्योंकि स्त्रियों से क्षमा-याचना माँगना इस समाज के लिए तौहीन भरा प्रश्न है। डॉक्टर मैत्रेयी को बाँहों में तभी भरता है, जब वह उसे एकदम शांत भूमिका में देखता है। हलचल तो पुरुष की ओर से ही होनी चाहिए। यह है पुरुष सत्ता का दंभ! पत्नी की खुली मनोवृत्ति पति के लिए अशिष्टता का प्रश्न बन जाती है। पत्नी की पवित्रता उसे गंदगी नजर आने लगती है। पवित्र-अपवित्र शब्दों के ही कारण तो स्त्री किसी 'राम' द्वारा अग्नि में उतार दी जाती है, तो किसी 'इन्द्र' द्वारा पत्थर बना दी जाती है। कोई धर्मवीर उसे जारकर्म से जोड़ देता है, तो किसी देवदत्त द्वारा वह मर्यादा तोड़ने की अपराधिनी घोषित हो जाती है। ममता कालिया की यह कविता स्त्रियों की स्थिति को काफी हद तक उजागर कर देती है –

"मुँह–ही–मुँह में बड़बड़ाती औरतें,
पानी के बाद पसीने से नहाती औरतें,
जीवन के घुर पिछवाड़े पड़ी हुई औरतें,
संविधान के सामने सवाल बनी औरतें,
क्या ये कभी अपनी तरह जीने की
आजादी पाएंगी
या इसी तरह आदर्शों के पुराने लत्ते
सीने-पिरोने में खप जाएंगी।"[56]

बात जब संतान पैदा करने की आती है, तो वह भी स्त्री की इच्छा पर निर्भर नहीं करता। बच्चे कब और कितने चाहिए, यह भी पुरुष की इच्छा पर निर्भर करता है। हद तो तब हो जाती है, जब बच्चे का भी लिंग देखा जाता है। हरियाणा, पंजाब और दिल्ली जैसे राज्यों में भ्रूण हत्या के चलते लड़कियों की कमी हो गई है। मगर सेक्स और वंशवृद्धि के लिए तो औरत की जरूरत इस पुरुष समाज को पड़ती ही है। यही कारण है

कि त्रिपाला जैसी लड़कियों को 5 भाइयों के लिए खरीद लिया जाता है। द्रौपदी की परंपरा आज भी निभाई जा रही है। झारखंड की 'त्रिपाला' उसी शृंखला की एक कड़ी है। द्रौपदी का दुर्योधन को किया गया इंकार उसे भरी सभा में निर्वस्त्र होने का कारण बनता है। 'त्रिपाला' निर्वस्त्र तो नहीं की गई, लेकिन कफन में लपेटकर चिता पर चढ़ा दी गई। क्या सिखाना चाहता है पुरुष समाज ? क्या यह कि औरतें इंकार नहीं कर सकतीं।

समाज कहता है – स्त्री का पतिव्रता होना उसका धर्म है और यदि पति मर जाए, तो सती धर्म निबाहना चाहिए। नंदकिशोर की बहू पति की मृत्यु के बाद कुएँ में कूद जाती है। समाज कहता है- ऐसी औरत को तो डूबकर मर जाना चाहिए, क्योंकि विधवा के जीवन में किसी अन्य पुरुष का प्रवेश वर्जित है। गुरुकुल, लड़कियों के शिक्षण का संस्थान, जहाँ पुरुषों का प्रवेश निषेध है। उसी गुरुकुल में पढ़ने वाली नन्हीं जान 'शकुंतला', शास्त्रीजी द्वारा गर्भवती बना दी जाती है। पिता समान शास्त्रीजी इस छोटी उम्र की लड़की तक को नहीं छोड़ते। बाहर शिक्षा और संयम का दावा , भीतर पुरुषों के चक्र में फँसी घुटनभरी चीखें!

माना जाता है कि औरत अपवित्र और अशुद्ध है। आपने नहीं सुना होगा, कि किसी मंदिर की मुख्य पुजारिन, धर्मपीठ की शंकराचार्य कोई स्त्री है। कोई भी धर्म स्त्री को मुख्य भूमिका नहीं देता – चाहे वह मुस्लिम धर्म हो या ईसाई। पोप, काजी, मुल्ला की भूमिका किसी स्त्री को नहीं सौंपी जाती। समाज के लिए स्त्री का अस्तित्व केवल पुरुष की सेवा-सुविधा तक सीमित माना जाता है। इसके अतिरिक्त उन्हें 'योनि रूप' में माना जाता है, जहाँ उन्हें वंशवेल को समृद्ध करने का काम सौंपा जाता है। मैत्रेयी भी 'मिसेज शर्मा' बना दी जाती है। अपनी ही बेटी के ब्याह के कार्ड में उसे पहचान दी जाती है – 'श्रीमती आर. सी. शर्मा', 'मैत्रेयी' सिरे से गायब। समाज के अनुसार मर्यादा, कुलशीलता निभाना ही स्त्रीधर्म है। बात जहाँ निर्णायक भूमिकाओं की आती है, वहाँ स्त्री गायब! स्त्री को पुरुषों का सम्मान करने की हिदायत तो दी जाती है, लेकिन बात जब अपने सम्मान की आती है, तब 'रामश्री' की तरह उसके चाल-चलन को ही अवैध ठहरा दिया जाता है।

समाज के अनुसार स्त्री को न तो उसकी आर्थिक-आत्मनिर्भरता सुखी कर सकती है और न ही उसकी चेतना सम्पन्नता। केवल पारिवारिक दायित्व और पारंपरिक कर्मकांड ही उसे सुखी बना सकते हैं। 'मोहिता' (मैत्रेयी की बेटी) करवाचौथ का व्रत न रखने के

कारण पति और परिवार की नजर में गुनहगार हो जाती है। सुजाता (मैत्रेयी की तीसरी बेटी) द्वारा एस. सी. कास्ट के लड़के से ब्याह करने के कारण उसका माखौल उड़ाया जाता है –

"इनसे पैदा बच्चे अपना सरनेम क्या लिखेंगे ?
इनके मजे हैं, आरक्षण लेकर पढ़ेंगे, नौकरी पाएँगे"[57]

समाज के लिए सुजाता की इच्छा या फिर डॉ. नवल (सुजाता के पति) की प्रतिभा का कोई महत्त्व नहीं। यहाँ सवाल है एक स्त्री की अपनी इच्छा से चुने हुए वर के साथ ब्याहने का और वह भी नीच कही जाने वाली अस्पृश्य जाति के लड़के के साथ अपने जीवन को संजोने का। पंरपरा यही रही है कि ब्याह के मामले में लड़की की न तो राय ली जाती है और न ही उसकी इच्छा का मान किया जाता है।

मैत्रेयी की 'फैसला' कहानी काफी हद तक व्यवस्था की सच्चाई को समाज के सामने उजागर करती है। ग्रामपंचायतों में औरत को नहीं, 'श्रीमती' को खड़ा किया जाता है। चुनी भी वे ही जाती हैं और ग्रामपंचायत संबंधी मामलों पर निर्णय देने का अधिकार भी उन्हीं (श्रीमती) को होता है। 'श्रीमती' प्रधान अर्थात् फलां-फलां 'श्रीमान' के यत्न से बनी 'प्रधान'। अतः उसकी इच्छा उसके घूँघट के भीतर। शरीर उसका, मन श्रीमान् का।

'संवेदना' और 'प्यार' – स्त्री को दी जाने वाली सुन्दर और मनोहर भावनाएँ हैं। इन भावनाओं के व्यावहारिक प्रयोग के लिए स्त्री को समय और समाज को बदलना होगा। परिवर्तन की दिशा ही उसके 'स्वत्व' का वरण करेगी। उसे समझना होगा कि उसकी चुनौती उसे तलवार की धार पर चलने का हुक्म भी सुना सकती है। इसके लिए उसे तैयार रहना होगा। आखिर, तभी तो बदलते मायनों में स्त्री की तस्वीर भी बदलेगी, उसकी रंगत भी और उसकी संगत भी।

¼M-½ L=h thou dk l?k"k

"पढ़ा गया हमको
जैसा पढ़ा जाता है कागज
बच्चों की फटी कॉपियों का
चनाजोर गरम के लिफाफे बनाने के पहले!
देखा गया हमको
जैसे कि कुफ्त हो उनींदे
देखी जाती है कलाई घड़ी
अलस्सुबह अलार्म बजने के बाद!....
भोगा गया हमको
बहुत दूर के रिश्तेदारों के
दुख की तरह!"[58]

अनामिका की यह कविता समाज में स्त्री की स्थिति को काफी हद तक बयाँ कर देती है। सम्पूर्ण स्त्री जाति का इतिहास, यातना और विवशता भरी चीखों का गवाह है। जहाँ जन्म से लेकर मृत्यु तक संघर्ष की अनगिनत दास्तानें हैं, लेकिन वहाँ भी उनके संघर्ष को पराजित समूहों की त्रासदी मानकर इतिहास के पन्नों पर महत्त्व ही नहीं दिया गया। पराजय और दमन से जोड़कर, उनके इतिहास को सिरे से खारिज किया जाता रहा। स्त्री के भोगे हुए यथार्थ को, आज कहे जाने की जरूरत है। स्त्री के इस यथार्थ को व्यक्त करने का सबसे सशक्त माध्यम है – आत्मकथा। यहाँ अन्य विधाओं की अपेक्षा उसे अपनी अभिव्यक्ति का पूरा मौका मिलता है। एक स्त्री की आत्मकथा उसकी पीड़ा और विवशता की अभिव्यक्ति के साथ ही मुक्ति के संघर्ष की शुरुआत भी है। जहाँ वह अपने अधिकारों की माँग करती है, अपनी स्वाधीनता को पहचानने की कोशिश करती है और अपनी अग्नि–परीक्षाओं को हमारे सामने रखती है। तस्लीमा नसरीन का यह कहना काफी हद तक सही है – "औरत का कोई देश नहीं होता। देश का अर्थ अगर सुरक्षा है, देश का अर्थ अगर आजादी है, तो निश्चित रूप से औरत का कोई देश नहीं होता।"[59]

असमानता, असंतोष और शोषण आदि के विरुद्ध सक्रिय प्रतिरोध का नाम ही संघर्ष है। एक अव्यवस्थित व्यवस्था के प्रति चलने वाली सतत् प्रकिया। ऐसी प्रक्रिया, जो स्त्री को भोग्या समझे जाने के खिलाफ बगावत करती हुई जागरण का रास्ता तैयार करती है और दबी हुई आवाजों को मुखर कर केन्द्र में लाने का काम करती है। दुनिया की 98 प्रतिशत पूँजी पर जब पुरुषों का एकाधिपत्य हो, तब बराबरी की बात कैसे की जा

सकती है ? विवाह संस्था के अन्दर स्त्री, पुरुष की 'सम्पत्ति' हो जाती है और उसके बाहर 'वस्तु'। औरत होने की सजा को ही वह जिन्दगी भर झेलती रहती है। पुरुष जैसे चाहेगा, वैसे ही वह नाचेगी – 'होइहैं सोई जो पुरुष रचि राखा'। नियम कानून, परम्परा, न्याय, आदर्श, नैतिकता, मर्यादा – ये सारे सिद्धांत पुरुषों द्वारा निर्मित हैं, जो केवल एक पुरुष की ही रक्षा कर सकते हैं स्त्री की नहीं। स्त्रियों के अधिकांश फैसलों का आधार ही वे 'धर्मशास्त्र' हैं, जो एक पुरुष के लिए 'अफीम' और एक औरत के लिए 'जहर' देकर मारने का काम करते हैं।

स्त्री की अस्मत, उसकी अस्मिता, अस्तित्व – व्यक्तित्व, अधिकार-अभिव्यक्ति, समानता और सम्मान का प्रत्येक प्रश्न संघर्ष से जुड़ा हुआ है। समाज उसे साधन तो मानता है, साध्य नहीं। 'कामसूत्र' से लेकर 'मारूति' तक का हर विज्ञापन उसके शौर्य या पराक्रम का नहीं, बल्कि शरीर की उत्तेजक मुद्रा की माँग करता है। पहले नारी 'घर' में कैद थी, आज नारी पुरुष सत्ता के हितों को पोषित करने के लिए 'बाजार' में कैद है। परिवार की जकड़न से वह पूर्ण रूप से आजाद भी नहीं हुई थी कि उस पर यह दोहरी जकड़न! देह का प्रयोग तो पुरुष करता है, लेकिन मौत के घाट उतार दिया जाता है – स्त्री को। 'नयना साहनी' की मौत को 'बदचलन' पत्नी की हत्या का नाम दे दिया गया। हमेशा से 'बदचलन' स्त्री ही होती आई है। पति 'सुशील शर्मा' अपनी ही पत्नी 'नयना साहनी' पर चरित्रहीन का ठप्पा लगाकर उस घर गोली चला देता है। उस पर व्यभिचार का आरोप लगता है – 'मतलूब' से संबंध। कानून कहता है कि व्यक्ति द्वारा अपनी पत्नी को प्रेमी के साथ सहवास करते देखने से अधिक बड़ी उत्तेजनापूर्ण स्थिति और नहीं हो सकती। सुशील शर्मा ने भी यही किया था, फिर उसका अपराध क्या ? बदनसीब तो नयना है, जिसके भाग्य में कफन तक नसीब नहीं।

जो कुछ भी जायज, वैध और कानूनी है, वह पुरुष के खाते में और जो कुछ नाजायज, अवैध और गैरकानूनी है, स्त्री के खाते में! चारों ओर शोषण से घिरा उसका जीवन न्याय भी प्राप्त नहीं कर पाता। मामला उसकी देह का हो या अधिकारों की लड़ाई का। बलात्कार के मामले को संभोग का मामला कहकर निबटा दिया जाता है। तात्पर्य यह है कि जब तक स्त्री अपने जीने का हक छीनेगी नहीं, तब तक समाज उसे यूँ ही अपराधी बनाकर चिताओं में तब्दील करता जाएगा।

स्त्री आत्मकथाएं एक स्त्री की पीड़ा, उसके शोषण, अन्याय और संघर्ष की मुखर अभिव्यक्ति करती हैं। पुरुष के अनुसार स्त्री एक पराधीन पंछी है। उसे कोई हक नहीं

बनता कि वह अपने जीवन को संजोए-संवारे। उसका अपना जीवन होता ही नहीं, यही तो पुरुष मानता है। जब जीवन नहीं, तब फिर संघर्ष कैसे ? स्त्री आत्मकथाएं इन सारी मान्यताओं को ध्वस्त करती हुई एक नया इतिहास गढ़ती हैं। जो कभी नहीं कहा गया, उसे कहने की हिम्मत करती हैं, ये आत्मकथाएं। एक स्त्री का संघर्ष मात्र अपने लिए नहीं, वरन् पूरी व्यवस्था के बदलाव का प्रश्न होता है। वहाँ मुक्ति के साथ ही परिवर्तन की उम्मीद भी होती है। स्त्री के संघर्ष की एक नहीं, अनंत दिशाएं हैं। प्रत्येक स्तर पर संघर्ष उसकी परीक्षा लेता रहा है – फिर चाहे वह पारिवारिक स्तर हो, सामाजिक या आर्थिक। उसे उन समस्त व्यवस्थाओं की पोल खोलनी होगी, जहाँ हर पल 'अमीना' की अस्मिता को रौंदा जाता है, 'गार्गी' का सिर फोड़कर चुप करा दिया जाता है, 'सकीना' का बचपन उससे छीनकर महज 6 वर्ष की उम्र में ही हवस का शिकार बना लिया जाता है। जहाँ 'प्रमिला' को रखैल घोषित कर अपराध का जिम्मा उस पर ही थोपकर एक नहीं तीन बलात्कारियों को बाइज्जत बरी कर दिया जाता है।

हिंदी की चर्चित लेखिका मैत्रेयी पुष्पा का जीवन, संघर्ष और पीड़ा का ज्वलन्त उदाहरण है। मैत्रेयी और उनकी माँ कस्तूरी का जीवन यह बताता है कि स्त्री को समाज की पुरुषवादी मानसिकता के साथ ही उन व्यवस्थाओं से लड़ना होगा, जो स्त्री को बंधनों में कैद कर उनका जीवन ही उनसे छीन लेती हैं। कस्तूरी का जीवन स्त्री जीवन की हकीकत को हमारे सामने लाता है, जो बताता है कि केवल आर्थिक आत्मनिर्भरता से ही स्त्री-मुक्ति संभव नहीं है। उसे समाज के प्रत्येक स्तर पर लड़ना होगा, तभी जाकर उसकी मुक्ति का सपना सच हो सकता है।

धर्म ने यह विधान बनाया है कि स्त्री अपने पति को ईश्वर के रूप में देखे। उसके लिए अनिवार्य माना गया है कि वह पति के लिए प्रार्थनाएं करे। धर्म के ताने-बाने से निर्मित समाज-संस्था स्त्री को तरह-तरह के बंधनों में कस देती है। स्त्री को ही धर्म की इस संस्कृति में परिवर्तन कर नवनिर्माण करना होगा। उसे साहस करना होगा- 'शंकराचार्य' जैसे धर्माचार्यों की पोल खोलने का, जो देवदासियों और दान-उपहार की परंपरा से 'संपत्ति' के मालिक के साथ 'सेक्स' के मालिक भी बने बैठे हैं। क्या संघर्ष ही स्त्री जीवन का आधार है ? जीवन का उल्लास कुछ भी नहीं ? सभ्यता ने स्त्री से इतना कुछ छीना है, जिसकी भरपाई नहीं की जा सकती। इतने दमन और शोषण के बावजूद उसकी जिजीविषा मानव अस्मिता के लिए निरन्तर संघर्ष करने की प्रेरणा देती रहती है।

अपनी आत्मकथा के द्वारा मैत्रेयी पुष्पा समाज में परिवर्तन के साथ ही स्त्री की स्वतंत्र इच्छा और अस्मिता की माँग करती हैं। एक स्त्री के संघर्ष का प्रमुख मुद्दा होता है – उसका व्यक्तित्व। मैत्रेयी खुलेपन और बोल्डनेस के साथ स्त्री की स्थिति को उजागर करने के साथ ही स्त्री-संघर्ष के प्रश्नों को भी उठाती हैं। बदलते सामाजिक संदर्भों में आज भी स्त्री स्वयं को पराधीनता से मुक्त करने के लिए संघर्ष कर रही है। मैत्रेयी का लेखन संघर्ष की अनुगूंजों का एक महासंगीत लिए है। मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा स्त्री-विमर्श के साथ ही सामाजिक-विमर्श भी खड़ा करती है। एक ऐसा समाज–विमर्श, जहाँ बात समता की होगी, बराबरी के हक की होगी। मैत्रेयी स्त्री को उसकी संपूर्णता में देखती हैं, अतः उनका संघर्ष बाहरी और भीतरी दोनों स्तरों पर है।

मैत्रेयी की माँ 'कस्तूरी' का जीवन-संघर्ष, स्त्री-जीवन की सच्चाई को हमारे सामने रखता है। जिस समाज ने कस्तूरी को अब तक मवेशी की भाँति इस्तेमाल किया, उससे वह मुक्ति चाहती है। कस्तूरी अपनी बेटी को इन समस्त पीड़ाओं से आजाद करना चाहती है, जिनमें बंधकर एक औरत जीवन भर छटपटाती रहती है और एक दिन मृत हो जाती है। ''जीवन-संघर्ष का मतलब होता है, जीवन-दर-जीवन-संघर्ष।"[60] कस्तूरी का जीवन कुछ ऐसा ही है। वास्तव में जीना, मरने से ज्यादा मुश्किल है। मुश्किलों का सामना करना जानती है कस्तूरी। अपनी हिम्मत से वह सारा कर्ज उतारती है, जो उसके पति हीरालाल ने अपने जीते-जी लिया था। बहू की जगह 'मजदूर' और 'ग्वालिन' बनकर कर्ज के एक-एक रकम की अदायगी करती है। जबकि पति इसी कर्ज के डर से भागा-भागा फिरता था। सरकार द्वारा कस्तूरी की नौकरी छीन ली जाती है, उसका पद समाप्त कर दिया जाता है, लेकिन वह हिम्मत नहीं हारती।

"विद्रोह एवं आत्मानुशासन की तहों में छिपी निगूढ़ बौद्धिकता ही असल में 'कस्तूरी कुण्डल बसै' का केन्द्रीय स्वर है, जो इसे आत्मकथा से अधिक समूची स्त्री जाति के संघर्ष की कथा बना डालती है, जहाँ पराजय, हताशा और कुंठा के बावजूद स्वप्न एवं सृजन की अनगिनत इच्छाएं हर कन्या के जन्म के साथ बलवती हो उठती हैं।"[61] स्त्री की यातना की कहानी कहती कस्तूरी पितृसत्तात्मक किले को तोड़ने के साथ ही अपने संघर्ष को व्यर्थ नहीं जाने देती। अपने संघर्षों से ही वह हर बार एक नयी हिम्मत पाती है। कस्तूरी जिंदगी के धूल धक्कड़ से लड़ती हुए जीवन की घुटन को भी हमारे सामने रखती है। पुरुष अनुशासित इस समाज में कस्तूरी अपने औरत होने का सच बयाँ करती

है। अब वह किसी कुंडल में नहीं रहेगी, क्योंकि "स्त्री की कस्तूरी अब उसकी शिक्षा, उसके स्वाभिमान, उसके सामर्थ्य, उसके स्वातंत्र्य और उसके साहस में है।"[62]

बेटे की मृत्यु, बेटी का जन्म, पति की मृत्यु जैसी तमाम घटनाएँ कस्तूरी को 'कुछ कर गुजरने' की राह पर ले जाती हैं। सारी वर्जनाओं को तोड़कर वह प्रगति के पथ पर नवीन निर्माण करती है। जीवन उससे अब तक कुछ-न-कुछ छीनता रहा है, लेकिन उसका जुनून कम नहीं होता। वह अपनी जैसी तमाम विधवा, बेसहारा और परित्यक्ताओं के जीवन का सहारा बनती है, उन्हें संबल देती है। स्त्री-स्वातंत्र्य की प्रबल पक्षधर कस्तूरी स्त्री मुक्ति के नए अर्थों को खोलने के साथ ही विस्तार भी देती है।

मैत्रेयी का संघर्ष कस्तूरी से भिन्न है। मैत्रेयी का संघर्ष न केवल समाजिक परिस्थितियों से है, बल्कि अपनी ही माँ कस्तूरी से भी है। वह मुक्ति की आकांक्षा में माताजी रूपी सिस्टम से बाहर निकलना चाहती है। बचपन से ही यौन-शोषण की शिकार होती आई मैत्रेयी अपनी माँ द्वारा ही उपेक्षित सा जीवन जीने को विवश कर दी जाती है। माँ से संघर्ष का प्रमुख मुद्दा है 'नैतिकता'। समाज द्वारा थोपी गई नैतिक वर्जनाओं से उसे परहेज नहीं। मैत्रेयी के अनुसार दैहिक भूख छिपाने की नहीं बल्कि स्वीकारने की चीज है। वहीं कस्तूरी के लिए यह निषेध का प्रश्न है। इसी बिन्दु को लेकर माँ और बेटी में बार-बार टकराव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

कुछ प्राप्त करने की इच्छा ही व्यक्ति को संघर्ष के लिए विवश करती है। यह संघर्ष कभी व्यक्ति का व्यक्ति के प्रति और कभी परिस्थितियों के प्रति होता है। माँ के संसार से भिन्न है, मैत्रेयी का संसार। वह 'निषेधों' की नहीं, 'स्वीकारों' की दुनिया चाहती है, इसीलिए माँ से बार-बार टकराती है। स्त्री -देह से मुक्ति उसका प्रमुख लक्ष्य है। वह अपनी देह, इंद्रियों और भावनाओं को निर्णय लेने की स्वतंत्रता देना चाहती है। मैत्रेयी एक ऐसा समाज चाहती है, जिसकी नींव मानवीय संबंधों पर टिकी हो। बचपन से ही उत्पीड़नों को झेलती आयी मैत्रेयी अपनी दैहिक और मानसिक जरूरतों का हक माँगती है। वह नौकरी के लिए नहीं, बल्कि विवाह के लिए संघर्षशील दिखायी देती है। "'विवाह' बनाम 'आर्थिक-स्वातंत्र्य' के बहाने मैत्रेयी जिस मुद्दे को सशक्त ढंग से विचारोत्तेजना देती है, वह है औरत की सुरक्षा और सम्मान।"[63]

अपनी माँ के कुंडल से मुक्त होने का निरंतर प्रयास करती मैत्रेयी छल-पोषित परंपरा से मुक्त होने के लिए निरन्तर विद्रोह करती है। रूढ़ियों, परंपराओं, लांछनों को

वह ध्वस्त कर देना चाहती है। अपनी स्त्री-जैविकता को स्वीकारने की अदम्य जिजीविषा उसे सिर पर कफन बांधकर चलने की प्रेरणा देती रहती है। "वह पिछड़े हुए रूढ़ि जर्जर, पुरुष अनुशासित भारतीय समाज में अपने औरत होने का भागमान बता रही है – जो कहूँगी, सच कहूँगी के हलफिया बयान के साथ, तिरिया जनम झन देहु की कातर प्रार्थना को नकारते हुए।"[64] मैत्रेयी का विरोध उस मानसिकता के विरुद्ध है, जो स्त्री को शील के दायरे में संकुचित कर देना चाहती है। समाज में बदलाव का प्रश्न उसके लिए बेहद महत्त्वपूर्ण है। इसी बदलाव के लिए वह समाज द्वारा स्त्री देह के लिए बनाए गए कारागार को तोड़ने के साथ-ही माँ द्वारा बनाए गए 'कारागार' को भी तोड़ती है। वह समाज को बताना चाहती है कि स्त्री की मुक्ति पुरुष से मुक्त होने में नहीं, बल्कि स्वयं को पुरुष से कमतर आँकने की हीनग्रंथि से, और पुरुष की आत्मदया पर निर्भरता से मुक्त होने में है।

माँ से मैत्रेयी का संघर्ष विवाह के पहले भी था और विवाह के बाद भी। मैत्रेयी प्रेम चाहती है और माँ इसकी छूट नहीं देती। कस्तूरी के अनुसार तो प्रेम 'सर्वविनाश' का प्रश्न है; वहीं मैत्रेयी के अनुसार – "प्रेम एक आकर्षण और अनुभूति है। प्रेम तो विस्तृत है – धरती, आकाश, वायु, जल से लेकर सभी जगह वह जाति, धर्म, देश और सीमाओं से मुक्त है।"[65] मैत्रेयी की प्यार पाने की जिद कस्तूरी को विवाह करवाने के लिए विवश कर देती है। वह विवाह तो करवा लेती है, लेकिन संयोग के अवसर प्राप्त नहीं कर पाती। विवाह भी सहजता में उसे प्राप्त नहीं होता बल्कि माँ से निरन्तर जूझकर उसे पति नामक प्राणी प्राप्त होता है।

संबंधियों – परिचितों की हवस का शिकार होती आई मैत्रेयी बचपन से ही देह-घर्षण का कुत्सित नाच देख चुकी है। उसका संघर्ष गली-गली में घूमते बेखौफ मुस्टंडों से अपनी देह की रक्षा के लिए है। मैत्रेयी के सामने सबसे बड़ा सवाल है – 'आत्मरक्षा'। अपने आत्मसम्मान के लिए वह इस समाज से जी-जान से जूझती है। उसका यह दृढ़संकल्प उसे अपनी माँ के सामने भी नहीं झुकने देता। जीवन की लगभग हर एक चीज पाने के लिए मैत्रेयी को काफी संघर्ष करना पड़ता है, फिर चाहे प्रश्न भावनाओं का हो या फिर आत्मनिर्भरता का, ये मैत्रेयी को आसानी से प्राप्त नहीं हो पाते। माँ का प्यार पाने के लिए वह तड़पती रही, लेकिन वह उसे मिलता ही नहीं। ऊपर से कड़ा अनुशासन! माँ पति के साथ एकांत के प्रिय क्षण भी नहीं देने देती। पति-पत्नी का मिलन कस्तूरी को 'व्यभिचार' लगता है। यह अकेली औरत की कुंठा है ? या जीवन भर

समाज से उपेक्षित किए जाने का प्रतिशोध ? जो अपनी ही बेटी को चैन से रहते हुए नहीं देखना चाहती। कस्तूरी के अपने जीवन की रिक्तता मैत्रेयी के जीवन के भरेपन से प्रतिस्पर्द्धा करती है। अपनी बेटी तक को वह प्रतिद्वंदी के रूप में देखती है। "क्या उनका व्यवहार यही नहीं बताता कि या तो डॉक्टर उनका होकर रहे या फिर अपना कोई असर तक न दिखाए।"[66] परंपरा तो यही कहती आ रही है कि अपनी ही देह को स्त्री अपनी इच्छा से नहीं, बल्कि पुरुष की इच्छानुसार प्रयोग करेगी।

वात्सल्य – विहीन बचपन के अनेक संघर्षों से जूझती आई मैत्रेयी उम्र के इस पड़ाव पर भी चैन से नहीं रह पाती। कभी पति की इच्छा-अनिच्छा का प्रश्न, तो कभी माँ का कड़ा अनुशासन उसके जीवन को कठिन से कठिनतर बनाता रहता। मैत्रेयी न तो धर्म के खिलाफ है और न ही नैतिकता के विरुद्ध। उसका संघर्ष सदियों से चली आ रही सामाजिक व्यवस्था के ढाँचे से स्वयं को मुक्त करने के लिए है। पति की पहचान को आधार बनाकर जीवन व्यतीत कर देना उसके जीवन का लक्ष्य नहीं। वह मिसेज आर. सी. शर्मा बनकर नहीं, बल्कि 'मैत्रेयी पुष्पा' बनकर अपना जीवन अपने बलबूते पर जीना चाहती है। इसके लिए वह रास्ता भी स्वयं ही तैयार करती है।

स्त्री का जन्म एक ऐसे पौधे के रूप में होता है, जिन्हें विकसित करने का हक कुछ मालियों को सौंप दिया जाता है। माली लोग कहते हैं कि ऐसे पौधों का छाया में रहना बेहतर है, क्योंकि बाहर निकलने पर वे अपनी खूबसूरती खो देते हैं। मैत्रेयी जब-जब अपने बनाए क्षेत्र में निकलने की कोशिश करती है, तब-तब पति उसे प्रतिष्ठा का हवाला देकर घर में कैद करना चाहते हैं। उसके जीवन का उद्देश्य है – लेखक बनना। जो तकलीफें कहने की नहीं होती और जिन्हें सुनने पर गौर ही नहीं किया जाता, अपनी उन सारी पीड़ाओं, दर्द को वह लेखन के माध्यम से अभिव्यक्त कर देना चाहती है। अपनी जैसी तमाम स्त्रियों के दुखों को वह 'शक्ल' देना चाहती है। मैत्रेयी का लेखन पति की रोमानियत में खलल करता जान पड़ता है। क्या कर रही हो ? का स्वर उसको भीतर से झकझोर देता है। "अकेला सोऊँ, अकेला जागूँ, कैसी जिन्दगी है ? मैंने समझा था तुम्हारी हॉबी है यह, लेकिन तुमने तो हमारी लाइफ हैल कर दी।"[67] पहले माताजी और अब पति। माँ के लिए अपना प्रगति अभियान सर्वोपरि था, तो पति के लिए अपनी प्रतिष्ठा, अपनी तरक्की। मैत्रेयी इन सबके बीच कहीं नहीं थी। यही दर्द उसके अस्तित्व को बार-बार कचोटता रहता है।

साहित्यिक दुनिया में भी मैत्रेयी की मुश्किलें कम नहीं। एक ओर सह–सम्पादक जी की – 'मिलो न, मिलो न' की मनुहार और दूसरी ओर पति की पहरेदारी के बीच झूलती स्त्री। मैत्रेयी के लेखन को बार-बार नकारा जाता है, क्योंकि स्वार्थ साधना ही इन संपादकों का परम ध्येय रहता है। कहते हैं कि साहित्य, व्यक्ति की चेतना को स्वतंत्रता प्रदान करता है। यहाँ तो स्वतंत्र बनाने के बजाए गुलाम बनाने की बात सामने आती है।

शोषण के चक्र में पिसती मैत्रेयी की आकांक्षाओं का, उसके स्वप्नों का बार-बार कत्ल किया जाता है। यह अत्याचार नहीं तो और क्या है ? साहित्य जगत में व्याप्त शोषण के साथ ही, एक स्त्री के प्रति समाज और साहित्य -जगत से जुड़े लोगों का रवैया भी यहाँ स्पष्ट हो जाता है।

पहले कहानी और फिर उपन्यास लिखने का सिलसिला मैत्रेयी को न केवल लोक की कथाकार बनाता है, बल्कि अनुभवी लेखिकाओं की श्रेणी से भी जोड़ देता है। 'बेतवा बहती रही' के बाद 'इदन्नमम्', 'चाक', और 'अल्मा कबूतरी'। जीवन के पृथक-पृथक अनुभवों की सच्ची अभिव्यक्ति। 'इदन्नमम्' की 'मंदा' एक दृढ़ संकल्प नारी का व्यक्तित्व लेकर हमारे सामने आती है। मैत्रेयी की मेहनत, क्षमता और उसका आत्मविश्वास उसे समीक्षक, आलोचक और संपादकों का मोहरा नहीं बनने देता। यही कारण है कि उसका लेखन व्यापक पाठकवर्ग से सीधे जुड़ जाता है। मैत्रेयी जानती है कि साहित्य का रास्ता खूँखार जीव-जंतुओं से भरा है। वह इसी रास्ते से गुजरकर अपना मुकाम हासिल करने का दम रखती है। "यह जमीन किसी एक की बपौती नहीं, न इसके कानूनी हिस्सेदार। यहाँ कोई इतना बड़ा भी नहीं, जो पलक झपकते नए लोगों के पाँव उखाड़ दे।"[68] एक ओर साहित्य-जगत का सामंतवादी रूप और दूसरी ओर पति का संस्कारों से ग्रस्त वर्चस्ववादी रवैया! पुरुष-सत्ता को चुनौती देता लेखन पति के लिए बार-बार आहत होने का कारण बन जाता है। मैत्रेयी के लिए दोहरा संघर्ष – एक ओर अपनी रचनात्मकता के प्रति चाहत और दूसरी ओर घर-परिवार को उखड़ने से बचाने की कोशिश।

थोपी गई नैतिक शर्तों पर अपनी कलम चलाने के बजाए मैत्रेयी वह सब लिखने का साहस करती है, जो अब तक साहित्य के पन्नों पर अनुपस्थित रहा है। सच लिखने का साहस यदि उसे अश्लीलता की श्रेणी में डाल देता है, तो मैत्रेयी को उसकी परवाह नहीं। जानती है कि उसका निर्भीक लेखन पुरुष सत्ता की जड़ों तक को हिलाने की ताकत रखता है। कोई मंदा, कोई मुनिया ही मुक्ति का वह रास्ता बनाएगी, जो परतंत्रता

की बेड़ियों को चुनौती देगा। जहाँ बात अपनी इच्छा की होगी। मुक्ति की कल्पना में खुली दिशाओं का आह्वान करती मैत्रेयी स्वयं को विवाह-चिह्नों से भी आजाद कर लेती है। पहले करवाचौथ व्रत का त्यागना और फिर विवाह की निशानी कहे जाने वाले औजारों – बिछिया, चूड़ी, मंगलसूत्र को त्यागना। यह मैत्रेयी का साहस नहीं तो और क्या है ? वह ऐसे बंधनों में नहीं बंधना चाहती, जो स्त्री को घुटन में जीने को विवश करते हों। विवाहित पुरुष के लिए तो ऐसे कोई चिह्न, व्रत नहीं, फिर स्त्री के लिए ही क्यों ? वास्तव में एक स्त्री का संघर्ष चौतरफा है। जिंदगी का हर मोड़ उसे चुनौती देता हुआ ललकारता रहता है। जब-जब वह अपने जीवन को स्वयं द्वारा बनाए पैमाने पर कसने की कोशिश करती है, तब-तब तमाम आरोपों से मढ़ दी जाती है। मैत्रेयी के पति भी उसे संदेह के घेरे में खड़ा कर देते हैं – "मैं जान रहा हूँ, तुम्हारा मन बदल रहा है, आँखें, तो शुरूआत से ही चंचल हैं। पर-पुरुषों की संगत की इच्छा है ? विवाहिता होने की निशानियाँ रोड़ा बनी हैं" ?"[69]

स्त्री जब अपने जीवन को अपनी नजर से देखने लगती है तो पुरुष द्वारा चरित्रहीन बना दी जाती है। क्या उसे इतना भी हक नहीं, कि वह अपने पैमाने स्वयं निर्धारित करे ? मान, मर्यादा, प्रतिष्ठा, आबरू, इज्जत पुरुष द्वारा इस्तेमाल किए जाने वाले ऐसे शब्द हैं, जो उससे जीने का हक तक छीन लेना चाहते हैं। मैत्रेयी को 'स्वांग' से परहेज है, क्योंकि वह जानती है कि 'प्रेम' भूखे रहने या स्त्री की सजावट भरी देह से नहीं बढ़ता। उसके लिए तो तन-मन का संगी होना जरूरी है। मैत्रेयी की यह पहल स्त्री-मुक्ति के नए अर्थों को हमारे सामने रखती है। मुक्ति अर्थात् तन के बजाए मन को महत्त्व देना, क्रिया-कर्म के बजाए विश्वास को प्रमुखता देना....। 'चाक' की सारंग चली आ रही परम्परा से टकराती है। चले आ रहे रिवाजों को बदलने की दुस्साहसिकता उसे 'बदचलन' बना देती है। यह कैसा न्याय है ? मैत्रेयी का संघर्ष स्त्री के उद्धार के लिए नहीं, बल्कि उसके कर्मक्षेत्र के विस्तार के लिए है। अपनी परंपरा का निर्माण अपने हाथों से करने के लिए है। ऐसे रीति-रिवाजों को वह तोड़ देना चाहती है जो जिन्दगी भर के लिए उसे अपाहिज बनाने की कोशिश में लगे रहते हैं। मैत्रेयी, 'सारंग' ('चाक' की नयिका) के माध्यम से अपने अनुभवों को लेखन के धरातल पर सामने लाने का प्रयास करती है। पति की नजर में 'चाक' "अवैधता का स्तंभ खड़ा करने वाला चरित्रहीन औरत की संतान सरीखा...।"[70] हम उम्मीद भी कैसे कर सकते हैं कि एक पुरुष ऐसी स्त्री को मान्यता देगा, जो समाज, धर्म और नियमों-कानूनों के खाँचों में स्वयं को ढालने के बजाए

अपना रास्ता स्वयं तैयार करे। समाज शायद यह भूल जाता है कि स्त्री यदि बहना जानती है, तो शिलाखंड की तरह अपनी स्थितियों पर अडिग रहना भी जानती है। वह यदि प्रेम कर सकती है, तो घृणा के वीभत्स रूप को भी धारण कर सकती है।

अपने लेखन के माध्यम से मैत्रेयी उन प्रसंगों को उठाती हैं, जो अब तक अनछुए थे। 'अल्मा कबूतरी' उपन्यास के माध्यम से मैत्रेयी कबूतरा जाति का इतिहास हमारे सामने रखती हैं। अल्मा एक ऐसी स्त्री के संघर्ष को हमारे सामने रखती है, जिसका गाँव-बस्ती में प्रवेश तक निषेध माना जाता है। जिसकी देह के लत्ते नोंचकर नंगे वदन चलने को विवश किया जाता है। जन्मजात अपराधी की चिप्पी उससे जीने का हक तक छीन लेती है। ऐसी परिस्थितियों के बीच भी अल्मा एक नया इतिहास रचती है। मैत्रेयी अपने लेखन के माध्यम से उन छह करोड़ जन्मजात अपराधियों को मुक्ति दिलाना चाहती है, जिन्हें बिना किसी सम्पदा के प्रतिकूल परिस्थितियों में रहने को विवश किया जाता है। 'अल्मा कबूतरी' जिन्दा रहने की हकीकत को हमारे सामने लाता है। जब जब कोई स्त्री अपना वजूद तलाशने की कोशिश करती है, तब-तब उसे पराधीनता के पिंजरों में कैद करने की कोशिश की जाती है। मैत्रेयी के साथ भी यही होता है। जो पति अब तक 'जानम-जानम' कहकर पुकारते थे, अब उसी पति द्वारा मैत्रेयी को बार-बार संदेहों के घेरे में खड़ा कर दिया जाता है। कभी गृह निष्कासन का आदेश, तो कभी कर्तव्यों से भरे फरमान। मैत्रेयी का लेखकीय व्यक्तित्व ही पति के क्रूर परिवर्तन का कारण बन जाता है।

मैत्रेयी का संघर्ष इन मायनों में भी महत्त्वपूर्ण है कि वह अपने परिवार को साथ लेकर अपने स्वत्व की तलाश करती है। अपने सारे दायित्वों को निभाते हुए, अपने लिए भी एक बेहद निजी और सुरक्षित कोने की तलाश करती है। घर भले ही उसके लिए युद्धस्थल बन जाए, लेकिन वह उसे छोड़ती नहीं। पति को छोड़कर पुरुषवादी वर्चस्व से मुक्ति पाना उतना मुश्किल नहीं होता, जितना कठिन होता है पति के साथ रहकर पुरुषवादी मानसिकता के कारागार को तोड़ना। मैत्रेयी पति के साथ रहकर स्त्री के लिए अनैतिक माने जाने वाले कोने-अंतरों को रोशनी में लाती है। वह स्त्री के तन-मन दोनों की आजादी चाहती है, क्योंकि 'तन छूटे मन कहाँ समाई'। मैत्रेयी का उद्देश्य पति का अपमान या उन्हें अपने से हीनतर साबित करना नहीं बल्कि अपनी इच्छाओं के लिए लड़ना है।

¼p½ vfLerk ryk'krh L=h

अस्मिता अर्थात् अपनी पहचान। कस्तूरी और मैत्रेयी दोनों ही, समाज से अपने अस्तित्व की माँग करती हैं। पराधीनता के चक्र से आजादी की माँग करते हुए, वे अपने मनुष्य होने का हक जताती हैं। जिस समाज में स्त्री के महत्त्व को बार-बार नकारा जाता है, उसमें अपनी पहचान बनाने के लिए वे निरन्तर संघर्षरत रहती हैं। वे किसी की पुत्री, पत्नी या माँ मात्र बनकर जिंदगी नहीं गुजारना चाहतीं, बल्कि अपना मार्ग खुद तलाशती हुईं समाज में अपनी महत्ता स्थापित करती हैं। कस्तूरी 'समाज-सेविका' बनकर समाज में अपना अहम् दर्जा स्थापित करती हैं, तो मैत्रेयी लेखिका बनकर अपनी निर्णायक भूमिका की स्थापना करती हैं।

नारी की पराश्रिता और उसके दासत्व को मानवता के लिए 'कलंक' का उद्घोष करते हुए कस्तूरी, मानो चीख कर कह उठती है -

"मैं बागी हूँ
हाँ मैं बागी हूँ
विद्रोही हूँ
मैंने पिता की बात गलत साबित की
कि अक्षर-ज्ञान से अधिक नहीं पढ़ सकती
भाई का अभिमान तोड़ा
कि सिर्फ चूल्हा-चौका ही मेरी नियति है...
हाँ, मैं बागी हूँ
समाज के बनाए चौखटे में
फिट न हो सकी...
+ + + + +
मेरा युद्ध पुरुष जाति से नहीं
उस साँचे से है, जिसमें फिट होना बना दी गई है
स्त्री की नियति
मैं मनुष्य हूँ
और इसी रूप में व्याकुल हूँ।"[71]

स्त्री की चली आ रही नियति पर सवाल खड़ा करती हुई कस्तूरी, समाज की संकीर्ण मानसिकता को हमारे सामने रखती है। आदमी जिस बराबरी का आश्वासन स्त्री को देता है, वह दरअसल एक पुरुष की दया, वासना, रियायत, प्रोत्साहन या फिर क्षण

भर की छूट मात्र है। यह छूट भी तभी तक होती है, जब तक आप अपने 'औरत' होने को स्थगित किए रहती हैं अर्थात् पुरुष व्यवस्था के लिए समर्पित हो जाती हैं। उस समय तक तो आप श्रद्धेय और सम्मान के योग्य हैं। बवाल तो तब खड़ा होता है, जब किसी दिन आप 'औरत' होने का दावा कीजिए, स्वामी की इच्छा के विरुद्ध अपने जीवन का मार्ग चुनिए और वे सारे कार्य करिए, जिन्हें करने के लिए आपका मन आपको बार-बार उद्वेलित करता है। फिर देखिए तमाशा! पुरुष आप पर लांछन और अत्याचार के कितने शिकंजे कस देता है। सारी आधुनिकता, वैज्ञानिकता के बावजूद आज भी पुरुष स्त्री के साथ परम्परावादी रवैए को ही अपनाता है।

"कस्तूरी की अस्मिता की लड़ाई गुपचुप नहीं, बड़बोली (लाउड) है, जहाँ समाज के वर्चस्व को चुनौती देकर अपनी अलग राहों के ऐलान और अन्वेषण में स्त्री सशक्तीकरण का महती स्वप्न है।"[72] 16 वर्ष की अबोध आयु में भी वह अपना भला-बुरा भली-भाँति जानती है। पढ़-लिखकर वह बंधक जिंदगी से मुक्त होना चाहती है। विवाह-संस्था पर उसे रत्तीभर भी विश्वास नहीं। उसकी समझ में, विवाह अपने जघन्य और क्रूरतम रूप में 'औरत-मंडी' है, जहाँ पुरुषों की इच्छा पर स्त्रियों का क्रय-विक्रय होता है। डेढ़ वर्षीया बेटी की माँ कस्तूरी, पति की मृत्यु के बाद नाते-रिश्तेदारों की कृपा पर जीने की अपेक्षा अपना रास्ता खुद बनाती है। वह जानती है कि जिस मार्ग पर उसने कदम रखे हैं, उस पर काँटे ही काँटे हैं। कस्तूरी की दूरदृष्टि उन संकटों को न देखकर, अपने व्यक्तित्व और अस्मिता को देखती है। यही दूरदृष्टि कस्तूरी के अंदर आत्म-विश्वास पैदा करती है। "कस्तूरी प्रचंड स्त्री नहीं, नुकीला सवाल बन कर पाठक की चेतना को निरंतर बींधती रहती है।"[73] परंपरा और संस्कारों की दुहाई देने वाला यह समाज, कस्तूरी को 'कठकरेज लुगाई' कहता है। बिना इसकी परवाह किए, कस्तूरी जोग में दीक्षित होती है। उसकी यह दीक्षा उन गृहणियों के खिलाफ है, जो ब्याह करके धर्मपत्नी बनती हैं और समझौते करती हैं। उन माँओं के विरुद्ध हैं, जो दहेज ले या देकर अपनी संतानों का ब्याह करती हैं। स्त्री की विभिन्न भूमिकाओं के भीतर छिपी बिलबिलाती सच्चाईयों को कस्तूरी पहचानती है। तभी तो वह देश की स्वतंत्रता पर सवालिया निशान खड़ा करती है – "देश आजाद किसने मान लिया ? औरतों की आजादी तो गुलाम पड़ी है। बस, मर्दों का आजाद होना देश का आजाद होना है ?"[74]

शक्ति, संकल्प और ऊर्जा का पूँजीभूत रूप है – कस्तूरी। आत्मा की पुकार के अतिरिक्त उसे हर चीज बेमानी लगती है। जन्मपत्री की अपेक्षा लड़के की मार्कशीट

देखकर विवाह-संबंध करने का हठ पालने वाली कस्तूरी क्रांतिकारी भी है। समाज कहता है कि बगावत औरत को शोभा नहीं देता, पर कस्तूरी बगावत करती है "स्वाधीन-चेतना, आत्मसजगता, अस्तित्वबोध और स्वालम्बन की ही भावना उसमें नहीं है, पुरुष समाज को अंगूठा दिखाने की जिद भी है।"[75] स्त्री स्वातंत्र्य की जो अलख् कस्तूरी जगाती है, वह आज भी प्रासंगिक है। आज से 50 साल पहले औरतों की स्थिति कितनी दयनीय रही होगी, इसका अंदाजा लगाया जा सकता है। इन बदतर परिस्थितियों में भी कस्तूरी, महानगरीय संस्कृति ढोने वाली तमाम डिग्रीधारी औरतों से कहीं बढ़कर है। वह 'करो या मरो' पर अमल करने के अतिरिक्त अन्य किसी भी विकल्प को स्वीकार नहीं करती है। कस्तूरी, अपने अधिकारों के लिए मुख्यमंत्री तक से लड़ती है। शासन द्वारा उसे मैदान से बाहर खदेड़ने की बार-बार कोशिश की जाती है, लेकिन वह हार नहीं मानती। कस्तूरी की यह लड़ाई अपने अस्तित्व के लिए है। वह महिला आंदोलन की अगुआ बनकर स्त्री अभिव्यक्ति का स्वतंत्र पाठ पढ़ाती है। स्त्रियों को शिक्षित कर, वह घर-घर में स्त्री की चेतना, उसके विवेक और स्वाभिमान को जाग्रत करना चाहती है।

कस्तूरी, जीवन भर अपने स्वाभिमान के लिए निरन्तर संघर्षरत रहती है। भविष्य के सुनहरे अक्षर लिखने का जो संकल्प वह करती है, उसे पूरा भी करती है। कस्तूरी उस हौसले का नाम है, जो स्त्री को ऊर्जावान बनाता है। ममता कालिया की यह कविता कस्तूरी पर बिल्कुल सटीक बैठती है –

"क्या मुझे हमेशा मोहलत की तरह मिलेगी जिन्दगी
या
बख्शीश में
जाओ,
उनसे कह दो
मैं न कैदी हूँ न भिखारी
मेरा हक है
एक समूची साबुत आजादी।"[76]

अपनी समस्त इच्छाओं, आकांक्षाओं के साथ मैत्रेयी एक ऐसी लकीर खींचना चाहती है, जो अपनी रोशनी से समय और समाज को एक नई दिशा दे सके। अपने व्यक्तित्व के प्रत्येक पक्ष को उभारती मैत्रेयी अपनी सम्पूर्णता की तलाश करती नजर आती है। अपने अनुभव को हकीकत में ढालने की सर्जनात्मक इच्छा बार-बार अपने हक की माँग करती है। अपने जीवन को खंगालने की इच्छा में निहित है – भविष्य को संवारने

का स्वप्न। खुद को मनुष्य समझे जाने की माँग कहीं उससे ताडंव की ताल पर खुल्लमखुल्ला विद्रोह करवाती है, तो कहीं विश्रांति के मंद स्वरों में बह कर जीवन की पतवार किन्हीं प्रिय और सबल हाथों में सौंप देने की इच्छा में तब्दील हो जाती है।

सच्चाईयाँ कैसी भी हों, मैत्रेयी जीवन की उन वास्तविकताओं को अपने अंतर्मन की निधि न बनाकर बाहर उलीच देती है। पराजय, हताशा और शोषण के बावजूद स्वप्न और सृजन की अनगिनत इच्छाएं मैत्रेयी के जन्म की सार्थकता को बलवती करती नजर आती हैं। मैत्रेयी की तासीर, कस्तूरी से जुदा है। सब के साथ जुड़कर वह अपनत्व तलाशती है। यही अपनत्व आत्म-सार्थकता की खोज में उसकी मदद करता है। लोक-तत्व उसके रग-रग में व्याप्त है। उसे आर्थिक आत्मनिर्भरता की ऊचाइयाँ उतना सम्मोहित नहीं कर पाती हैं, जितनी करती हैं मानवीय मूल्यों की जिंदा मिसालें। वह तवज्जो इस बात को देती है कि वह स्वयं क्या चाहती है, स्वयं क्या सोचती है ? यही कारण है कि सुहागरात के समय बिना किसी हिचकिचाहट के शारीरिक संबंध बनाने के लिए वह स्वयं पहल करती है और अपनी कामकलाओं के द्वारा असफल पति को आनंद भी देती है। अपनी उद्दाम कामेच्छा को वह गलत न मानकर अपने शरीर की आवश्यकता मानती है। मैत्रेयी अपनी प्राकृतिक जरूरतों को उपवास के सहारे नहीं काटना चाहती। मानसिक तुष्टियों का सीधा जुड़ाव है देह से। परंपरा इसे व्याभिचार कहे तो कहे! सेक्स के स्तर पर औरत को कमजोर सिद्ध करने वाले पुरुष के खिलाफ वह बगावत करती है।

मैत्रेयी को वे सारी वर्जनाएं विरोध के लिए उकसाती हैं, जो उसके जीवन को नीरस बनाने की बार-बार कोशिश करती हैं। सवाल जब उसके खुद के जीवन का है, तो अपनी माँ को भी संदेह के घेरे में खड़ा करने से वह नहीं चूकती। बचपन छीनने वाली गौरा का कस्तूरी से क्या और कैसा संबंध है? उसे पता है। माँ को प्रेरणास्रोत मानने के बजाए, अपनी दिशा स्वयं निर्धारित करती है। ऐसा नहीं है कि मैत्रेयी, अपनी माँ से हरेक स्थिति पर टकराती है। उसकी टकराहट उन स्थितियों से है, जो उसके अस्तित्व को अंधकार के गर्त में डुबो ले जाना चाहती हैं। माँ उसके लिए कई बार प्रेरणा का स्रोत भी बनती है, बशर्ते उसके खुद के अहम् को कोई चोट न पहुँचे। समाज में अपनी खुद की पहचान स्थापित करने से पहले वह सर्वप्रथम घर-परिवार में अपना सम्मान हासिल करना चाहती है। बाहर हम प्रगति के कितने भी दावे करें, जब तक परिवार को साथ लेकर नहीं चलेंगे, प्रगति के दावे झूठे ही माने जाएंगे। पति को छोड़कर नहीं, वरन् पति को

साथ लेकर चलती है मैत्रेयी। स्वयं के लिए पति के मन में सम्मान का भाव भरकर वह पति के मन को परिवर्तित करने के साथ ही समाज को नयी गति भी देती है।

पति द्वारा पत्नी का आगा-पीछा खंगालना उसे पसंद नहीं। पति उसे 'सभ्यता का पुतला' लगता है, जो उसे बिना ब्रा वाले ब्लाउज में देखकर आग-बबूला हो उठता है। पति द्वारा पूछे गए तमाम प्रश्नों पर वह अपनी उग्र प्रतिक्रिया व्यक्त कर देती है। 'क्यों छिपाऊंगी' ? का उत्तर एक पल के लिए पति के अन्दर भी पछतावे का भाव पैदा कर देता है। अपने स्वत्व के आगे, उसे किसी की परवाह नहीं, फिर चाहे वह माँ हो या पति। समाज मानता है कि नारी एक अबला है और एक अबला की कहानी आँचल के दूध और आँखों के पानी से ही लिखी जाती है। अबला जैसी संज्ञा मैत्रेयी को कतई स्वीकार नहीं। परंपरा पोशित सारी रूढ़ियों, आशंकाओं, अविश्वासों, कुत्साओं और मनु द्वारा प्रवर्तित स्त्री-संविधान को नकारती हुई मैत्रेयी एक सशक्त और जागरूक स्त्री के रूप में हमारे सामने आती है। "जिसके पास यदि वक्ष है, तो मेरूदंड भी है, जिसके सामने यदि जकड़न भरा दृश्य है, तो उसको भेद सकने की लेसर दृष्टि भी है, जो कमलादास की तरह केवल सेक्स प्रतीक नहीं। जिसको जो चाहे बिस्तर तक ले जाए, वह अमृता प्रीतम की तरह सेक्स कुड़ी भी नहीं है जो दिमाग की अपेक्षा दिल से अधिक सोचती है।"[77] न तो वह अपनी जैविकता से आक्रांत है और न ही स्त्रीपन से। उसे न लोक की परवाह है, न वेद की और न ही शास्त्र की। व्यक्तित्व का यही हिस्सा मैत्रेयी की पहचान का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

अपने कहानी संग्रह 'गोमा हँसती है' की भूमिका में मैत्रेयी ने लिखा है – "हमारा मन जो कहता है, पाँव जहाँ ले चलते हैं, इंद्रियाँ जिस सुख की आकांक्षा करती हैं, मनुष्य होने के नाते वे हमारे कुविचार-कुचेष्टाएँ नहीं, जन्मसिद्ध अधिकार हैं।"[78] इन्हीं जन्मसिद्ध अधिकारों को पाने के लिए वह दुनिया से मुठभेड़ करती है। बात चाहे प्रिंसिपल की हो या फिर बाड़े की, अपनी गलती न होने पर उसे किसी से भी माफी माँगना स्वीकार नहीं। प्रेम पाने के लिए विवाह तो करना चाहती है, लेकिन जहाँ उसके स्वाभिमान को ठेस पहुँचे, उसे बर्दाश्त नहीं। बारात घर में आ चुकी है, विवाह की रस्में भी हो चुकी हैं, मैत्रेयी बिना किसी की परवाह किए, डॉक्टर पति को बुलाकर सीधे कहती है – "तुम्हारे साथ-साथ जाना मेरा हक है। इसमें किसी नीति-रीति का दखल नहीं। इसमें धन-संपत्ति की बात कहाँ से आई ?"[79] विवाह के बाद भी वह पति से सीधे सवाल करती है – "पहले बताओ कि ब्याह क्यों किया ? हमने पार लगा दिया, तो नखरे पसारने लगे ?

समझे रहना कि मुझे नखरे-वखरे अच्छे नहीं लगते।"[80] इज्जत और मर्यादा में बंधने के बजाए, प्रेम की अनूठी चाल से वह अपने जीवन को भर देना चाहती है। देह के सारे पहरे उतारकर वह अक्सर ही 'नीरज' की कविता गुनगुनाती रहती -

"प्यार अगर थामता न उँगली
जग में इस बीमार उमर की
हर पीड़ा वेश्या बन जाती
हर आँसू बंजारा हाता।"[81]

समाज चाहता है कि स्त्री अपने निर्णय स्वयं तय न करे। मैत्रेयी इन सारी स्थितियों पर वार करती हुई अपना रास्ता खुद तलाशती है -

"मैं जिसे प्रेम करती हूँ
पकड़ सकती हूँ चौराहे पर उसका हाथ
देह और मन तो क्या
त्याग सकती हूँ सब कुछ
अनचाहे के ऐश्वर्य से परहेज है मुझे।"[82]

जब एक पुरुष को प्रेम करने की आजादी हो सकती है, तो फिर स्त्री को क्यों नहीं ? मैत्रेयी बिना किसी हीन भाव या संकोच के अपने प्रेमियों को बार-बार याद करती है। मैत्रेयी अपने स्वत्व की तलाश अपनी पूरी इच्छाओं, आकांक्षाओं के साथ करती है। उसकी नजर में प्रेम को छिपाना गलत हो सकता है, लेकिन उजागर करना नहीं। भावनाओं को छिपाकर या नजरअंदाज कर कोई व्यक्ति कैसे अपने निज के साथ खड़ा हो सकता है ? ब्याह के बाद भी डॉ. सिद्धार्थ के साथ नाचना, उसकी अपनी इच्छा का प्रश्न था, इसलिए वह नाचती है। यदि पति, अपनी पत्नी की भावनाओं को खत्म करना चाहता है, तो पत्नी को पूरा हक बनता है कि वह पतिव्रता के नियमों का पालन करने से इंकार कर दे। पुरुष चाहता है कि स्त्री निष्क्रिय रहे, उसकी थोड़ी सी भी हरकत पुरुष को सकते में डाल देती है। उसका अपना भी अस्तित्व है, कोई डुगडुगी नहीं, जिसे कोई भी अपने इशारों पर नचा सके – "मैं नाच के लिए नहीं उठी थी, अपने हकों के लिए खड़ी हुई थी, जिनसे मेरी जिन्दगी के सम्मान का वास्ता था।"[83]

समाज सुधार का संकल्प, स्त्री की छवि को बदलने की कोशिश और चली आ रही परंपरा में बदलाव का दृष्टिकोण, ये सभी बिन्दु मैत्रेयी को एक प्रमुख लेखिका का दर्जा देते हैं। मैत्रेयी आज स्वतंत्र है, आत्मनिर्भर है, उसका स्वयं का व्यक्तित्व है। समाज में उसकी ख्याति मिसेज आर. सी. शर्मा के रूप में नहीं, बल्कि लेखिका मैत्रेयी पुष्पा के

रूप में है। छल-छद्म, दुराव–छिपाव से मुक्त जीवन का जो सपना उसने देखा था, आज वह अपनी नवीन लालिमा के साथ उसके जीवन को नए अर्थ देता प्रतीत होता है। आज समाज में न केवल उसकी स्वयं की पहचान है, बल्कि उसकी तीनों बेटियों की भी अपनी-अपनी पहचान है। स्वयं से शुरू हुई अस्मिता की यह लड़ाई तीनों बेटियों को आत्मनिर्भर बनाने से होती हुई सम्पूर्ण स्त्री जाति के उत्थान और उत्कर्ष को हमारे सामने लाती है।

l nHk

[1] राजेन्द्र यादव – आदमी की निगाह में औरत, पृ.102

[2] रमे ा उपाध्याय– हमारे सामाजिक और सांस्कृतिक सरोकार, पृ. 14

[3] मैत्रेयी पुष्पा – कस्तूरी कुण्डल बसै, पृ. 12

[4] वही, पृ. 11

[5] वही, पृ. 42

[6] वही, पृ. 36

[7] वही, पृ. 42

[8] वही, पृ. 45

[9] वही, पृ. 51

[10] वही, पृ. 54

[11] वही, पृ. 56

[12] वही, पृ. 57

[13] वही, पृ. 104

[14] वही, पृ. 115

[15] वही, पृ. 126

[16] अनभै साँचा, जनवरी–जून 2008, अजय की कविता 'सपने' पृ. 90

[17] मैत्रेयी पुष्पा – गुड़िया भीतर गुड़िया, पृ. 124

[18] मैत्रेयी पुष्पा – कस्तूरी कुण्डल बसै, पृ. 9

[19] वही, पृ. 16

[20] मैत्रेयी पुष्पा – चर्चा हमारा, पृ. 36

[21] वही, पृ. 52

[22] मैत्रेयी पुष्पा – कस्तूरी कुण्डल बसै, पृ. 58

[23] वही, पृ. 62

[24] वही, पृ. 130

[25] वही, पृ. 104

[26] वही, पृ. 109

[27] वही, पृ. 140

[28] वही, पृ. 78

[29] मैत्रेयी पुष्पा – चर्चा हमारा, पृ. 85

[30] मैत्रेयी पुष्पा – गुड़िया भीतर गुड़िया, पृ. 13

[31] वही, पृ. 35

[32] वही, पृ. 294

[33] मैत्रेयी पुष्पा – चर्चा हमारा, पृ. 31

[34] वही, पृ. 35

[35] वही, पृ. 22

[36] प्रभा खेतान – स्त्री उपेक्षिता, पृ. 15

[37] मैत्रेयी पुष्पा – कस्तूरी कुण्डल बसै, पृ. 33

[38] वही, पृ. 23

[39] मैत्रेयी पुष्पा – गुड़िया भीतर गुड़िया, पृ. 181

[40] वही, पृ. 288

[41] वही, पृ. 296

[42] वही, पृ. 347

[43] प्रभा खेतान – स्त्री उपेक्षिता, फ्लैप

[44] वही, पृ. 18

[45] राजेन्द्र यादव – आदमी की निगाह में औरत, पृ. 22

[46] रघुवीर सहाय – प्रतिनिधि कविताएं, पृ. 35

[47] मैत्रेयी पुष्पा – खुली खिड़कियाँ, पृ. 7

[48] मैत्रेयी पुष्पा – चर्चा हमारा, पृ. 50

[49] मैत्रेयी पुष्पा – कस्तूरी कुण्डल बसै, पृ. 72

[50] वही, पृ. 118

[51] वही, पृ. 295

[52] वही, पृ. 126

[53] वही, पृ. 199

[54] मैत्रेयी पुष्पा – चर्चा हमारा, पृ. 10

[55] मैत्रेयी पुष्पा – खुली खिड़कियाँ, पृ. 51

[56] ममता कालिया – खाँटी घरेलू औरत, पृ. 44

[57] मैत्रेयी पुष्पा – गुड़िया भीतर गुड़िया, पृ. 260

[58] अनामिका – कवि ने कहा, पृ. 9

[59] तस्लीमा नसनीन – औरत का कोई देश नहीं, भूमिका

[60] मैत्रेयी पुष्पा – कस्तूरी कुण्डल बसै, पृ. 66

[61] पहल, अंक –73, पृ. 256

[62] साक्षात्कार, अगस्त 2003, पृ. 50

[63] शशिकला त्रिपाठी– उत्तर शती के उपन्यासों में स्त्री, पृ. 105

[64] साक्षात्कार, अगस्त 2003, पृ. 45

[65] आलेख संवाद, मई 2008, पृ. 16

[66] मैत्रेयी पुष्पा – कस्तूरी कुण्डल बसै, पृ. 281

[67] मैत्रेयी पुष्पा – गुड़िया भीतर गुड़िया, पृ. 144

[68] वही, पृ. 224

[69] वही, पृ. 244

[70] वही, पृ. 249

[71] वर्तमान संदर्भ, अगस्त 2009, पृ. 84

[72] पहल, अंक –73, पृ. 256

[73] वही, पृ. 257

[74] मैत्रेयी पुष्पा – कस्तूरी कुण्डल बसै, पृ. 297

[75] शशिकला त्रिपाठी – उत्तरशती के उपन्यासों में स्त्री, पृ. 103

[76] ममता कालिया – खाँटी घरेलू औरत, पृ. 28

[77] साक्षात्कार, अगस्त 2003, पृ. 42

[78] मैत्रेयी पुष्पा, गोमा हँसती है, भूमिका

[79] मैत्रेयी पुष्पा – कस्तूरी कुण्डल बसै, पृ. 240

[80] वही, पृ. 251

[81] वही, पृ. 96

[82] वर्तमान संदर्भ, अगस्त 2009, पृ. 83

[83] मैत्रेयी पुष्पा – गुड़िया भीतर गुड़िया, पृ. 17

# r`rh; v/;k;

## e=;h i"ik dh vkRedFkk dh lkFkdrk

¼d½ vkRedFkk y[kdk,¡ vkj mudh vkRedFkk dh iklfxdrk

¼[k½ e=;h i"ik dh vkRedFkk % ijijk cuke uohurk

¼x½ lkekftd eY; vkj e=;h i"ik dh vkRedFkk

आत्मकथा एक विशेष उद्देश्य के तहत लिखी जाती है। यह उद्देश्य ही उसे तत्कालीन संदर्भों से जोड़ता है। यह लेखक पर निर्भर करता है कि वह किन मुद्दों को उठाए ? रचना में निहित भाव ही रचना के सार्थक/निरर्थक होने का कारण बनते हैं। इस दृष्टि से मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा अपनी सार्थकता को हमारे सामने रखती हैं। एक निजी मुलाकात में मैत्रेयी ने कहा था 'आत्मकथा को लिखने का मेरा उद्देश्य है – पुरुष वर्ग स्त्री के दर्द को समझे और उसकी सोच में परिवर्तन आए'। लेखिका सामंती व्यवस्था के ताने–बानों से निर्मित समाज में बदलाव चाहती है। यह आत्मकथा संस्कारों के पीछे छिपे रहस्यों को उजागर कर विकास और समृद्धि के रास्तों को खोजने का काम करती है। बंद कमरों की घुटती साँसों को अभिव्यक्त करती यह आत्मकथा अपने समय और समाज के प्रश्नों के उठाकर हमें सोचने को मजबूर कर देती है।

आत्मकथा के माध्यम से मैत्रेयी पुष्पा मानवतावादी समाज का निर्माण करती हैं। मैत्रेयी समाज की चली आ रही परंपरागत मान्यताओं को ध्वस्त कर नवनिर्माण चाहती हैं। लेखिका के अनुसार 'मेरी सीता यदि राम के साथ पत्नी बनकर वन जाती, तो सबसे पहले उस शूर्पनखा को बचाती, जिसकी नाक उसके पति और देवर काट रहे थे। प्रणय–निवेदन की सजा एक लड़की को अंग–भंग करके दे रहे थे। मेरी द्रौपदी सास के कहने से पाँच पांडवों के बीच पत्नी के रूप में टुकड़े–टुकड़े न बँटती। वह समूची औरत की तरह, पांडवों में से उस एक पुरुष का वरण करती, जो उसे पसंद होता।"[1] सती प्रथा के विरुद्ध बनाए गए कानून–विधान महिला–कल्याण के नाम पर सुधारवादी दिखावे से बढ़कर और कुछ नहीं। 'लॉ' का अर्थ ही है – 'लॉ अगेंस्ट वूमैन'। कानून जिस समानता की बात करता है, वह तो मर्दों के लिए है। समानता का अर्थ है – समान लोगों में समानता जबकि स्त्री को तो समान माना ही नहीं गया। मैत्रेयी समाज में समानता चाहती है। स्त्री के हक के लिए वह समाज से लड़ने का हौसला भी रखती है। मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा इसी प्रयास की सशक्त अभिव्यक्ति बनकर हमारे सामने आती है। कबीर को आदर्श मानकर मैत्रेयी कागज की लेखी पर नहीं, आँखों देखे सच पर विश्वास करती हैं। उनकी यह आत्मकथा इसी सच की अभिव्यक्ति है। मैत्रेयी कबीर की इस उक्ति को एक नया अर्थ देती हैं –

'कस्तूरी कुंडल बसै, मृग ढूँढ़े बन माँहि
जैसे घटि घटि राम हैं, दुनिया देखे नॉहि।'

आध्यात्मिक अर्थ देनेवाला यह दोहा, मैत्रेयी के यहाँ नितांत भौतिक अर्थ देने लगता है। यहाँ सवाल भक्ति का नहीं, बल्कि मुक्ति का है। मुक्ति अर्थात् स्त्री की जकड़नों और बंधनों से आजादी। मैत्रेयी मात्र 'मुक्ति' के प्रश्न को उठाकर ही बात खत्म नहीं करती बल्कि इस प्रश्न को और अधिक व्यापक बनाती हैं। स्त्री–मुक्ति अर्थात स्त्री की अपनी आजादी अपने हाथों करनी होगी। कोई नियम–कानून नहीं, बल्कि स्त्री का साहस ही उसे बंधनों से आजाद कर सकता है। ठीक वैसे ही, जैसे कबीर ने कहा था – मोको कहाँ ढूँढे बन्दे, मैं तो तेरे पास में। ना तीरथ में, ना मूरत में, ना एकान्त निवास में... .। कहें कबीर सुनो भाई साधो मैं तो हूँ विश्वास में...।

## ¼d½ vkRedFkk yf[kdk,¡ vkj mudh vkRedFkk dh ikl fxdrk

वही रचना श्रेष्ठ मानी जाती है, जिसमें अतीत और वर्तमान का संवाद भविष्य को ध्यान में रखकर किया जाता है। अपने समय और समाज को उभारना न केवल महत्त्वपूर्ण बल्कि आवश्यक भी हो जाता है। यह आवश्यक है कि रचनाकार रचना के पीछे निहित उद्देश्य को पाठकों के सामने लाए। इसके अभाव में कोई भी रचना सार्थक नहीं कही जा सकती है। "महत्त्व इस बात का नहीं है कि हम क्या हैं और कहाँ हैं, सवाल इस बात का है कि हम अपने को दिखलाना क्या चाहते हैं ?"[2] लेखन कोई सुविधा नहीं, बल्कि अतिरिक्त जिम्मेदारी है।

एक स्त्री की आत्मकथा उसका आत्मालाप न होकर समाज की सच्चाई है। सामान्यतः यह मान लिया जाता है कि देह के रिश्तों की अभिव्यक्ति ही स्त्री की आत्मकथा है। माना यह जाता है कि स्त्री का जीवन देह से शुरू होता है और देह पर ही खत्म। हकीकत जबकि कुछ और ही है। स्त्री की यही देह व्यवस्था के तमाम सवालों को अपने अंदर समेटे होती है। एक ऐसा व्यक्ति, जो वर्षों से प्रताड़ित और उत्पीड़ित है, उससे आप यह उम्मीद कैसे कर सकते हैं कि वह उस प्रताड़ना को भूल जाए ? एक भूखा व्यक्ति सबसे पहले अपनी भूख को ही शांत करने का प्रयास करेगा। नारी जागरण और स्त्री के अधिकारों की बातें कहतीं स्त्रियों की ये आत्मकथाएँ अपने समय और समाज का महत्त्वपूर्ण दस्तावेज बनकर हमारे सामने आती हैं।

स्त्रियों का आत्मकथा-लेखन समाज की बनायी गई धर्मनीति और राजनीति के विरुद्ध एक बिगुल है। ये आत्मकथाएँ अपनी छटपटाहट व्यक्त करते हुए उन कसावटों को तोड़ देना चाहती हैं, जो मनुष्यगत जीवन से उनको अलग करती हैं। ये आत्मकथाएँ स्त्री की बनी बनायी छवि को ध्वस्त करती हैं। आत्मकथाओं में अभिव्यक्त स्त्री-जीवन हमें ऐसी अविश्वसनीय दुनिया में ले जाता है, जिसकी कल्पना तक हमने नहीं की होती है। स्त्रियों की ये आत्मकथाएँ ऐसे जीवन को हमारे सामने रखती हैं, जिस पर यह समाज कई सजाएँ दे सकता है। यह सजा भुगतने का साहस, दण्ड भुगतने की हिम्मत, समाज2 के सामने इन स्त्रियों का चुनौती भरा स्वर नहीं तो और क्या है ? आत्मकथा में स्त्री मन की वे पर्तें खुलती जाती हैं, जिनमें सोयी हुई चेतना धीरे-धीरे कुलबुलाने लगती है।

समाज की कुछ सच्चाइयाँ ऐसी होती हैं, जिनके खुलने से भय, आशंकाएँ और आतंक का माहौल पैदा हो सकता है। ये आत्मकथाएँ बिना किसी भय के अपनी आपबीती

को समाज के सामने लाती हैं। एक प्रकार की गति और ऊर्जा पाठकों को इन आत्मकथाओं से बाँधने का काम करती है।

स्त्रियों की इन आत्मकथाओं का उद्देश्य अपने प्रति दया जगाना या फिर सहानुभूति अर्जित करना नहीं है। ये आत्मकथाएँ शोषण और अन्याय के चक्र को दिखाते हुए उस व्यवस्था के विरोध की बात करती हैं, जो असमानता को बढ़ावा देती है। ये आत्मकथाएँ उस 'स्त्री' को उभारने की कोशिश करती हैं, जो अब तक रिश्तों में बंधी थी। यदि वह अपनी स्वायत्तता के बारे में सोचे, तो परिवार और समाज से उसे अलग कर दिया जाता था। अब स्त्री एक व्यक्ति के रूप में उभरी है। स्त्रियों के लिए वर्जित माने गए 'शक्ति और सत्ता' जैसे क्षेत्रों में उसका प्रवेश समाज के लिए एक चुनौती है। स्त्री की अभिव्यक्ति एक प्रकार से 'प्रतिरोध की संस्कृति' का निर्माण करती है। उसकी यह अभिव्यक्ति अपनी खोई हुई अस्मिता को पाने का प्रयत्न ही तो है। आत्मकथा एक ऐसा सृजन उत्पाद है, जिसमें 'आत्म' के माध्यम से 'अन्य' के रूप को देखा जा सकता है। रचनाकार के रूप में स्त्री अपने आसपास की घटनाओं, व्यवहारों को अपने 'आत्म' से जोड़कर देखती है।

"स्त्रियाँ हमेशा से विजित, उपनिवेशित और शासित रहीं, कहीं-कहीं, अपवादस्वरूप वे विधि-विधानों की आविष्कर्ता भी रहीं, लेकिन हमेशा उन्हें नस्ल, धर्म वर्ग और लैंगिक पूर्वाग्रहों के कारण हाशिए पर धकेला जाता रहा। रीला रॉबाथम का कहना समीचीन है कि 'स्त्रियों ने आत्मकथा लिखकर उनकी पहचान नष्ट करने वाली साजिशों का सांस्कृतिक/रचनात्मक प्रत्युत्तर दिया।"[3] आत्मकथा लिखकर स्त्री स्वयं को आजाद करने के साथ ही उन हजारों स्त्रियों की गुलामी की जंजीरों को तोड़ने में लग जाती है, जो अब तक परतंत्रता की बेड़ियों में जकड़ी हुई हैं। आत्मकथा लिखकर स्त्री सामाजिक अधिकार प्राप्त करने के लिए प्रयासरत होती है।

'स्व' की सीमा का अतिक्रमण करके 'निज' का 'पर' में विस्तार और फिर समय, समाज, इतिहास, वर्ग, असमानता के संघातों से गुजरती हुई स्त्री लाखों-करोड़ों स्त्रियों की मुखर आवाज बन जाती है। स्त्रियों की आत्मकथाओं को इसी दृष्टि से देखा जाना चाहिए। इन आत्मकथाओं में व्यक्त 'निज' दूसरों के साथ 'सहअस्तित्व' की एक नयी कहानी कहता है। पुरुषों की तुलना में स्त्रियाँ 'निज' के साथ-साथ 'पर' के लिए भी पर्याप्त अवकाश रखती हैं। "स्त्री आत्मकथा स्वयं में बारम्बार कहा जाने वाला अनुवादरहित अनकहा संदेश है, यह संदेश उनके लिए है जो वर्चस्वशाली संस्कृति के

उच्च पदों पर बैठे हैं। उन्हें यह संदेश स्त्रियों द्वारा दिया जा रहा है, उन सभी की ओर से जो समाज के हाशिए पर स्थित हैं।"[4]

आत्मकथा के माध्यम से एक स्त्री स्वयं को खोजने का काम भी करती है। समाज द्वारा स्त्री को देखने का परंपरागत नजरिया ही उसे 'आत्मकथा' लिखने के लिए प्रेरित करता है। पुरुषों द्वारा रचे गए साहित्य में स्त्रियों के चरित्र आदि प्रश्नों के अंकन में हमेशा से पुरुष दृष्टि की ही प्रधानता रही। स्त्रियों के अनुभव-जगत को समझने के बजाए उसमें रोमाँस, कल्पना और फैंटेसी के चित्रण को महानता दी गई। पुरुष की तुलना में एक स्त्री का अनुभव-संसार बहुत व्यापक होता है। एक स्त्री अपने जीवन में घटी किसी भी घटना को आसानी से भुला नहीं पाती है। एक स्त्री मातृत्व अथवा यौन शोषण के जिस अनुभव से गुजरती है, उसे वह जीवनभर भुला नहीं पाती है। इन घटनाओं का प्रभाव उसके शरीर और मन दोनों पर पड़ता है। साथ ही इन घटनाओं के परिणाम भी उसे जीवनभर भुगतने पड़ते हैं।

"यदि किसी जाति को लगातार हीन अवस्था में रखा जाए तो सही बात है कि वह हीन ही रहेगी किन्तु मानवीय स्वतंत्रता इस सीमा को तोड़ सकती है। आप अधिकार तो दीजिए, उपयोग करना स्त्री स्वयं सीख जाएगी।"[5] आज स्त्री, पुरुष के बराबर समानता हासिल करने के लिए लगातार संघर्षरत है। स्त्रियों की ये आत्मकथाएँ इसी संघर्ष को उद्‌घाटित करती हैं। अस्तित्व की यह लड़ाई एक नए परिवर्तन की सूचक है। स्त्रियों के ये आत्मकथ्य उत्कट जिजीविषा और आत्मबल की सर्जनात्मक कोशिश के रूप में हमारे सामने आते हैं।

समाज और परिवार की झूठी मर्यादाओं के दबाव में जीती स्त्री के लिए आत्मकथा लेखन उसे यथार्थ से टकराने का मौका देता है। उसे इस लेखन से बदलते हुए परिवेश में अपने 'स्व' को साबित करने की हिम्मत भी मिलती है। इस दृष्टि से स्त्रियों का आत्मकथा लेखन समय और समाज की बदलती परिस्थितियों में अपनी पूर्ण प्रासंगिकता रखता है। ये आत्मकथाएँ स्त्री के उस अनकहे इतिहास को कहती हैं, जिसे अब तक खारिज किया जाता रहा। भविष्य के इतिहास से वे वंचित न हों, ये आत्मकथाएँ इसी के लिए प्रयासरत हैं। इन आत्मकथाओं में एक स्त्री के सच के साथ समाज का सच भी छिपा होता है।

कुसुम अंसल की आत्मकथा 'जो कहा नहीं गया' एक ऐसी स्त्री को हमारे सामने रखती है जो आर्थिक रूप से अत्यधिक संपन्न है। बावजूद इसके अस्मिता की चाह कुसुम के भीतर इस कदर छटपटाती है कि वह अपनी कहानी को सबके सामने खोलने का साहस कर जाती हैं। यदि यह आत्मकथा हमारे सामने न होती तो हम कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि सम्पन्नता में पली-बढ़ी स्त्री भी इतनी दुखी हो सकती है। आत्मकथा नाम और संबंधों के साथ ही उन चीजों को भी खोलकर सामने रख देती है, जिन्हें हम परिवार की मर्यादा के नाम पर अपने भीतर छिपाए रखते हैं। यह अभिव्यक्ति का ही तो कमाल है कि समाज सकते में आ गया है और मर्यादा पुरुषोत्तम लोग सदमे में हैं। सारे खतरों को उठाते हुए कुसुम सच को खोलने का साहस करती हैं।

'जो कहा नहीं गया' एक उच्चवर्गीय और संपन्न घराने की स्त्री की कथा है। यह स्त्री अपने होने का अर्थ तलाश रही है। पति और बच्चों की व्यस्तता में कुसुम को साहित्य में अपने लिए जगह दिखाई देती है। कुसुम की समस्या उनका 'धनवान' होना है। यह समाज कुसुम को मात्र मिसेज बंसल मानकर उनके लेखन को 'टाइमपास' का साधन मानते हुए यह कहने में भी नहीं हिचकिचाता - "इस सेठानी को क्या जरूरत पड़ी थी लेखिका बनने की।"[6]

लोगों का यह मानना है ऐसी स्त्री के जीवन में कैसा संघर्ष, कैसा दुःख जो अत्यन्त धनाढ्य परिवार से है। हाँ यह अवश्य है कि कुछ लोग मात्र दैहिक या भौतिक कष्टों को सर्वापरि मानकर भूख-प्यास से पीड़ित स्त्री की कथा को ही वास्तविक मानते हैं और अन्य को काल्पनिक चित्रण। "'जो कहा नहीं गया' स्त्री अस्तित्व की संपूर्णता की तलाश की कथा है।"[7]

दस माह की उम्र में ही माँ का गुजर जाना और नई माँ के सामने वास्तविक माँ की तस्वीर के सामने भी न खड़े हो पाने की विवशता भय और त्रास का रूप ले लेती है। पिता द्वारा कुसुम को अपनी निःसंतान बहन को सौंप देना और फिर बहन की खुद की संतान होने पर उसे वापस पिता के पास भेज देना, ये सभी प्रसंग उसके अस्तित्व पर बार-बार प्रश्न खड़ा करते हैं। कभी सुरेन्द्र कुमार की बेटी, तो कभी पुरी साहब की बेटी कहलाना लेखिका से उसकी प्राथमिक पहचान तो छीन ही लेता है, साथ ही एक असुरक्षा भाव भी पैदा करता है। उस पर भी पिता का नई माँ में व्यस्त रहना उसे उस स्नेह से भी वंचित करता रहा, जिसकी वह हकदार थी। यही कारण था कि गहने-कपड़े और

सारी सुविधाओं के होने के बावजूद वह प्रेम तलाशती रही। अपनी विभक्त पहचान के साथ कुसुम रिश्तों के बनते-बिगड़ते समीकरणों के बीच उलझती रही और अपनी पहचान की तलाश करती रही। बार-बार उसका उखड़ा वजूद उसके अस्तित्व पर ही प्रश्न लगाता रहा।

कुसुम ने भौतिकता को अपना जीवन-साध्य कभी नहीं माना। यही कारण था कि अलीगढ़ की विशालकाय कोठरी से विदा लेने के बाद जब वह अपनी ससुराल पहुँचती है, तो खाना बनाने से लेकर जूते साफ करने में भी नहीं हिचकिचाती। नए परिवेश के बेहद साधारण माहौल को भी वह सँजोने का हौसला रखती है। रचनात्मकता के माध्यम से वह संबल पाने का मार्ग तलाश लेती है – "मैं अब मात्र कपड़े धोती, सुखाती, साधारण सी गृहस्थिन नहीं रह गई थी, मेरे उन कामकाजी हाथों में एक कलम भी आ गया था।"[8] यही लेखन कुसुम की पारिवारिक-पहचान से हटकर एक अलग पहचान बनाता है। एक महिला की अभिव्यक्ति और वह भी ईमानदारी और सत्यता के साथ अभिव्यक्ति का साहस आत्मकथा लेखन का एक रास्ता तैयार करता है। एक ऐसा रास्ता, जिस पर कुसुम गुजर चुकी हैं। वे महिलाओं को निज अभिव्यक्ति का संबल देने के साथ-साथ साहस भी देती हैं।

आत्मकथा जगत में कृष्णा अग्निहोत्री की आत्मकथा – 'लगता नहीं है दिल मेरा' और 'और–और औरत' पहली बोल्ड आत्मकथा है। समाज में स्त्रियों के बोलने की पाबंदी पर प्रहार करती कृष्णा यह जानती हैं कि जिस समाज में स्त्रियों के बोलने पर ही पाबंदी हो ऐसे माहौल में उनके द्वारा समाज की वास्तविकता को उजागर करना उन पर भारी पड़ सकता है। कृष्णा बिना भय के सच को उजागर करती हैं। वे जानती हैं, समाज क्या प्रतिक्रिया देगा ? कृष्णा की इस अभिव्यक्ति को निर्मला पुतुल की कविता के माध्यम से समझा जा सकता है –

"तुम कहते हो
मेरी सोच गलत है
चीजों और मुद्दों को
देखने का नजरिया ठीक नहीं है मेरा
+ + + + +
आपत्ति है तुम्हें
मेरे विरोध जताने के तरीके पर

तुम्हारा मानना है कि
इतनी ऊँची आवाज में बोलना
हम स्त्रियों को शोभा नहीं देता
+ + + + +
मुझे याद है -
जब मैं तल्लीन होती किसी
योजना का प्रारूप बनाने
या फिर तैयार करने बस्ती का नक्शा
तुम्हारे भीतर बैठा आदमी
मेरे तन के भूगोल का
अध्ययन करने में लग जाता....।"[9]

समाज की कठोर यातनाओं को झेलती कृष्णा यदि अपनी आत्मकथा न लिखतीं, तो हम कैसे जान पाते कि समाज और देश के सुहित के लिए नियुक्त किए गए अधिकारी अपनी ही बीबी के साथ कैसा व्यवहार करते हैं ? पति द्वारा कृष्णा को शुचिता के घेरे में खड़ा करने की यातना समाज के क्रूरतापूर्ण रवैये को सामने ला देती हैं। अपने ही सगे भाई, यहाँ तक कि माँ-बाप का भी पक्षपातपूर्ण रवैया स्त्री जीवन की वास्तविकता को हमारे समाने उजागर करता है।

तमाम मुश्किलों के बावजूद कृष्णा अपनी लड़ाई खुद लड़ती हैं। यहाँ भी नियति उसका साथ नहीं देती है। उसकी सर्विस छुड़वाने की कोशिशों और यहाँ से वहाँ तबादलों का सिलसिला! यदि उसने लोगों के सामने समर्पण कर दिया होता, तो शायद यह समाज उसे आसानी से स्वीकार कर लेता। अकेलेपन को झेलती कृष्णा दूसरा विवाह तो कर लेती है, पर यहाँ भी शादी के बाद उससे छल ही किया जाता है। श्रीयोग (पति), जो पहले उसकी तारीफ करते थकते नहीं थे, अब उसके लेखन को भी अपना नाम देने को मजबूर करते हैं। बात जब प्रतिभा की आई, उस पर भी पति का अधिकार।

विनय, गांगोली, समाधियांजी जैसे कई पुरुष कृष्णा के साथ संभोग करनाा चाहते हैं, कृष्णा की भावनाओं से उन्हें कोई मतलब नहीं। अपने वजूद के साथ खड़ी हुई स्त्री को यह समाज आखिर बिगड़ी हुई क्यों करार देता है ? स्त्री के प्रति समाज के पक्षपातपूर्ण रवैये को दर्शाती यह आत्मकथा हिंदी-साहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

यह आत्मकथा समाज के सामने कई प्रश्न खड़ा करती है। मसलन पुरुष के लिए शादी की अनिवार्य शर्त होती है -स्त्री का वर्जिन होना जबकि वही पुरुष अन्य स्त्री को वर्जिनिटी तोड़ने के लिए बार-बार विवश करता है। कृष्णा के पहले पति आई.पी.एस. हैं और दूसरे सिविल जज। दोनों ही कानून के रखवाले, पर सबसे अधिक भावनाओं का खिलवाड़ करने वाले भी वही हैं। कृष्णा को प्रेम मिलने के बजाए बार-बार छल, फरेब, अन्याय और अत्याचार का सामना करना पड़ता है। कृष्णा की बहिन, जो डिप्टी कलेक्टर की पत्नी है, जिंदा जल गई या जला दी गई ? यही है समाज का न्याय ? अपने जीवन के अनुभवों को कृष्णा ने बड़े साहस के साथ अभिव्यक्ति किया है।

कृष्णा की आत्मकथा अपनी व्यथा को दूसरों के समक्ष प्रस्तुत कर देने का माध्यम भर नहीं बल्कि अपनी पीड़ा, अपने दर्द को दूसरों के साथ बाँटने की प्रबल आकांक्षा की सशक्त अभिव्यक्ति भी है। वह तड़पती है, सिसकती है, लेकिन संघर्ष से पीछे नहीं हटती। कितनी आँधियाँ झेली, कितने दर्द सहे, पर कृष्णा की पतवार आज भी इस दर्द भरे जीवन को खेने के लिए पूरी तरह से तैयार है।

बचपन से लेकर उम्र के इस पड़ाव पर कृष्णा के जीवन में अमावस्या ही छाई रही। आत्मनिर्भर होकर भी वह अपनी जिंदगी अपनी मर्जी से न जी सकी। चौतरफा अंधकार ही छाया रहा। जीवन के प्रवाह में भावनाएँ बहती रहीं पर सच्चा मीत न मिला। उसके अपनों ने ही उसे नंगा करने का प्रयत्न किया। कृष्णा की यह आत्मकथा एक आम स्त्री के जीवन–संघर्ष को हमारे सामने लाती है। "जीवन का कटु सत्य है कि जीवन सुविधाजनक करोड़पतियों का या ऊँचे पदाधिकारियों का ही होता है। आम स्त्री को तो विभिन्न बाधा और रूकावटों से जूझना ही पड़ता है।"[10] स्त्री जीवन के संघर्ष के साथ ही कृष्णा की आत्मकथा एक लेखिका के जीवन की कठिनाइयों को भी हमारे सामने रखती है। कृष्णा दर्द से कराह उठती है जब उसकी लेखिकीय योग्यता को नकारकर हाशिए पर डालने का यत्न किया जाता है और उसे उपेक्षित कर महत्त्वहीन बनाने की कोशिश की जाती है।

भाई ने जब घर से निकाला, तब भी कृष्णा का साथ देने वाला कोई नहीं था। ऊपर से लांछन उस पर ही आया। माँ के स्नेह के लिए वह तरसती रही। जीवन के अंतिम दिनों में हार्ट अटैक की बीमारी से ग्रस्त माँ का अपनी ही बेटी उषा के पुत्र द्वारा किया गया अपमान कृष्णा को आज भी सालता रहता है। अपने जवान बेटे को खो चुकी माँ – बहू और पोते के ताने सुनने के लिए विवश कर दी जाती है। माँ गिर गईं या

अपनों के द्वारा ही गिरा दी गईं, यह प्रश्न आज भी कृष्णा के लिए रहस्यमय है। अन्तिम क्षणों में कृष्णा अपनी माँ से मिल नहीं पायी क्योंकि भाभी द्वारा उसे खबर तक नहीं दी गई थी। यहाँ मामला जायदाद के प्रलोभन का था। तमाम धमकियाँ मिलने के बावजूद जायदाद में अपना पाँचवा हिस्सा पाने के लिए कृष्णा लड़ती है। उसकी यह लड़ाई पैसे के लिए न होकर अपनी माँ के अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए है।

अजनबियों को भी अपनत्व देकर अपना बनाने वाली कृष्णा न केवल आत्मीयता पाने के लिए जूझती है, बल्कि जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं के लिए भी वह काफी हद तक संघर्ष करती है। कांता, एकता और अनिल को कृष्णा रहने का आश्रय तो देती है, लेकिन बदले में उसे अपमान और तिरस्कार के अलावा कुछ भी हासिल नहीं होता। क्या एक अकेली औरत समाज में सम्मान पाने की हकदार नहीं ? कृष्णा अपनी सदाशयता के कारण बार-बार छली जाती है। राजा जिसे कृष्णा अपने घर में शरण देती है, वह कृष्णा के ही चरित्र पर सवाल उठाने लगता है। परोपकार की इतनी बड़ी कीमत कि कृष्णा निर्दोष होते हुए भी अपराधी बना दी जाती है -

"अब मैं वह विचारती हूँ कि मुझे क्या सत्य का साथ नहीं देना चाहिए ? अनिल को बचाया, एकता की रक्षा की, दस हजार रुपए खोए। राजा साहब को असमय भोजन दिया। उनकी प्रेमिका को शरण दी, तो ये सब क्या मेरे गुनाह थे ? जिनकी एवज में स्नेह आदर तो दूर तिरस्कार की भागीदार बनी। वह भी इस उम्र में – क्योंकि मैं औरत थी.. ।"[11]

कृष्णा की आत्मकथा व्यवस्था के कई स्तरों को अपने में समेटे हुए है। कृष्णा देहधर्म से परे आत्मीयता और सहानुभूति चाहती थी, लेकिन उसकी गगरी रीति ही रही। यह सच है कि स्त्री-देह के आकर्षण या उसके लगाव के बिना पुरुष, स्त्री का सहयोगी होने से भी कतराता है। प्रताप, जिससे कृष्णा प्रेम करती है वह यहाँ तक कहने में नहीं हिचकिचाता - "इतनी जिंदगी तो जी ली, अब और क्यों जीना चाहती है ?"[12] कृष्णराघव के द्वारा कृष्णा के उपन्यास 'टपरेवाले' पर फिल्म बनाने का प्रस्ताव और फिर रुपयों की खातिर फिल्म बनाने से मना कर देना। कृष्णा की मानसिक पीड़ा के बारे में राघव ने शायद ही सोचा हो ? जो गुनाह कृष्णा ने किया ही नहीं, उनकी सजा उसे बार-बार दी जाती है। लोगों द्वारा की गई उपेक्षा उसे इतना अधिक प्रताड़ित करती है कि वह खुशी के दो पल भी हासिल नहीं कर पाती। कृष्णा दो बार ब्रेन अटैक की पीड़ा को झेल चुकी

है। इन परिस्थितियो में जीते हुए भी वह अन्याय का प्रतिकार करती है। लोगों द्वारा उत्पन्न की गई बाध्यता उसके 'स्वत्व' को डिगने नहीं देती। यही कारण है कि उस पर चरित्रहीन होने तक का ठप्पा लगा दिया जाता है।

कृष्णा की आत्मकथा के दोनों भाग एक ऐसी औरत की सच्चाई को हमारे सामने रखते हैं, जो प्यार पाने के लिए तड़पती रहती है पर उसे यह 'प्यार' नसीब नहीं होता। वह आज भी सच्चा प्यार पाने की ख्वाहिश रखती है। अपमान-वेदना का दंश झेलते-झेलते उसकी पूरी उम्र ही बीत गई। आज भी कृष्णा का मन करता है कि उसे वह शाम मिले जो किसी आत्मीय के साथ बीते। कृष्णा सदैव एक ऐसे पुरुष के लिए प्रतीक्षारत रही जो उसे प्रेमी सा सहलाए, आंलिगनबद्ध कर व्याकुल कर दे लेकिन सामनेवाला तो उसमें 'बार बाला' ही खोजता रहा। कृष्णा के भाव और संवेदना से तो वह कोसों दूर था। कृष्णा पहले भी तन्हा और अकेली थी, आज भी है। पुरुषवादी मानसिकता को उजागर करती कृष्णा की आत्मकथा व्यवस्था के अनेक रहस्यों से पर्दा उठाती है। एक ऐसी व्यवस्था, जहाँ पुरुष को शासक और स्त्री को दास माना जाता है। आज भी समाज के कई कोने ऐसे हैं जो स्त्री को सुबकने के लिए विवश करते हैं। इन्हीं कोनों पर रोशनी डालती कृष्णा की आत्मकथा समाज से स्त्री के जीने का हक माँगती है। स्त्री के प्रति पुरुषवादी रवैये, स्त्री-पुरुष संबंधों और स्त्री के जीवन की सच्ची तस्वीर को उभारती यह आत्मकथा अपने वर्तमान संदर्भों के कारण अपनी पूर्ण प्रासंगिकता रखती है।

कौशल्या बैसंत्री की आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' एक महिला होने के साथ ही अछूत होने के दंश को भी उजागर करती है। कौशल्या अपनी नानी के मूलमंत्र – 'अपनी लड़ाई खुद लड़ना और किसी पर बोझ न बनना' को ध्यान में रखकर जीवन की चौतरफा लड़ाई लड़ती है। दो मोर्चों पर घिरी स्त्री सुबकने के बजाए संघर्ष की प्रेरणा देती है। कौशल्या दलित स्त्रियों की जागृति हेतु 'महिला जागृति परिषद' की स्थापना करती है। महिलाओं को सम्मान से जीने के साथ ही वह उन्हें आत्मनिर्भरता का पाठ भी पढ़ाती है। स्त्री सशक्तीकरण की दिशा में अपनी अहम भूमिका निभाती कौशल्या के ये शब्द उसकी सार्थक कोशिश को हमारे सामने लाते हैं – "अगर हम स्वाभिमान से अपनी उन्नति करना चाहते हैं, तब हमें अपने पांव पर खड़ा होकर, अपने पर भरोसा रखकर आगे बढ़ना होगा। हमें अपने अंदर शक्ति पैदा करनी होगी। किसी का सहारा लेकर चलने से काम नहीं बनेगा।"[13]

इसी मूलमंत्र को अपनाती हुई कौशल्या अपना रास्ता खुद बनाती है। पति की प्रताड़ना का विरोध कर वह तलाक लेने से भी नहीं हिचकिचाती। बच्चों को अकेले पालकर वह एक स्त्री के सामर्थ्य का परिचय भी करा देती है। कौशल्या किसी की मोहताज न बनकर स्त्री-मुक्ति के स्वर को आवाज देती है।

'दोहरा अभिशाप' में संघर्ष की दोहरी नहीं, तिहरी बुनावट है। कौशल्या के माँ-बाप गरीबी से जूझते हुए अपनी लड़कियों को पढ़ाते हैं। पति स्वतंत्रता सेनानी होने के बावजूद कौशल्या को सम्मान नहीं देता है। आत्मकथा में कौशल्या ने लिखा है – "पत्नी को वह स्वतंत्रता सेनानी भी एक दासी के रूप में ही देखता था। ....मैं खाना बन जाने पर खा लेती थी। तब उसने यह शिकायत मेरे माई से की कि मैं उससे पहले खाना खा लेती हूँ। कोई जरूरी है कि पत्नी सबसे पीछे खाए। जिसे भूख लगे, वह खाए....।"[14]

कौशल्या घुटन में जीने को मजबूर एक स्त्री के अनुभव जगत को हमारे सामने रखती हैं। स्त्री का यही साहस समाज की आँखें खोलने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। सामाजिक बदलाव की उम्मीद के साथ ही परंपरा के परिवर्तन की आशा के साथ लिखी यह आत्मकथा समाज से स्त्रियों को उनके अधिकार देने की अपील करती है।

मन्नू भंडारी की आत्मकथा 'एक कहानी यह भी' लेखिका के बचपन से लेकर क्रमशः विकसित होने वाली रचना-प्रक्रिया को हमारे सामने रखती है। आत्मकथा में लेखिका ने लिखा है – "अपनी कहानी लिखते समय सबसे पहले तो मुझे अपनी कल्पना के पर ही कतर एक ओर सरका देने पड़े, क्योंकि यहाँ तो निमित्त भी मैं ही थी और लक्ष्य भी मैं ही... यह शुद्ध मेरी ही कहानी है और उसे मेरा ही रहना था, इसलिए न कुछ बदलने-बढ़ाने की आवश्यकता थी, न काटने-छाँटने की। यहाँ मुझे केवल उन्हीं स्थितियों का ब्यौरा प्रस्तुत करना था, वो भी जस का तस, जिनसे मैं गुजरी....दूसरे शब्दों में कहूँ तो जो कुछ मैंने देखा, जाना, अनुभव किया, शब्दशः उसी का लेखा-जोखा है यह कहानी।"[15]

पिता से विद्रोह कर बिरादरी के बाहर राजेन्द्र यादव से ब्याह करने का साहस! घर, परिवार, बेटी और नौकरी के समानान्तर लेखन की कठिनाई को भी यह आत्मकथा बयाँ करती है। संघर्षों से भरा जीवन, मानसिक तनाव और बीमारी में अकेलेपन की चुनौती को मन्नू सहर्ष स्वीकार करती हैं। कथा लेखन, पटकथा और फिल्म लेखन से

लेकर रंगमंच के लिए नाट्यरूपान्तरण की विस्तृत भावभूमि लेखिका को रचनात्मक ताकत देती है। पितृसत्तात्मक समाज एक स्त्री को जीवनभर स्त्री होने का अहसास कराता रहता है। बचपन से ही मन्नू अपने साँवले रंग के कारण कुंठित रहीं। इतिहास साक्षी है कि पुरुष से स्पर्द्धा स्त्री को सकते में डाल सकती है। पुरुष आज भी स्त्री से अपने अहं को सहलाने की अपेक्षा रखता है। यदि स्त्री स्वयं को दीन साबित कर, पति के समानान्तर प्रेम संबंधों को उदारता से स्वीकार कर लेती है, तो यह पुरुष के लिए विजय का साधन बन जाती है। लेखकीय स्वतंत्रता के नाम पर अपने प्रेम-संबंधों को वैध ठहराने की हठ से ही विवाह जैसी संस्था चल सकती है ? आत्मकथा ऐसे अनेकों प्रश्नों को समाज के सामने खड़ा करती है।

लेखिका इसे आत्मकथा न मानकर जिंदगी का एक टुकड़ा मानती है, लेकिन लेखिका की यह कहानी जीवन का एक अंश मात्र न होकर विविध पहलुओं को अपने में समेटे हुए है। अपने व्यक्तित्व – निर्माण में पिता की भूमिका को स्वीकारते हुए मन्नू भंडारी ने लिखा है – "आज अपनी अच्छाइयों और बुराइयों के साथ मैं जो भी हूँ, जैसी भी हूँ, उसका बहुत सा अंश विरासत के रूप में शायद मुझे पिता से ही मिला है।"[16] माँ का व्यक्तित्वहीन चेहरा तो मन्नू को प्रभावित भी न कर पाया। कॉलेज में अपनी अहम भूमिका निभाती मन्नू बिना किसी संकोच और भय के आजाद हिंद फौज के मुकदमे के सिलसिले में लोगों से हड़ताल का आह्वान करती है।

मन्नू को पत्नी का झुनझुना थमाकर 'मीता' के लिए राजेन्द्र का उमड़ता प्रेम विवाह पर से मन्नू का विश्वास उठने को बाध्य कर देता है। यह है पति का अपनी पत्नी के प्रति कर्तव्य ? बकौल मन्नू भंडारी राजेन्द्र यादव कहते हैं – "यह सही है कि प्रेम मेरा उसी से रहा पर घर बसाने के लिए वह ठीक नहीं थी, क्योंकि वह बहुत ही दबंग, अक्खड़ और डॉमिनेटिंग है – इन तीनों विशेषणों पर तो पुरुषों का एकाधिकार है... ये ही तो उसके व्यक्तित्व में निखार लाते हैं; पर इन्हीं विशेषताओं के चलते स्त्री तो साथ रहने लायक ही नहीं रहती। वाह रे स्त्री विमर्श के पुरोधा।"[17]

यह है पुरुष की इच्छा, जहाँ उसे एक का प्रेम अच्छा लगता है, तो दूसरे का व्यक्तित्व। पति-पत्नी के संबंधों को उभारने के साथ ही लेखिका ने इस कहानी में अपने समय के राजनीतिक-सामाजिक पहलुओं को भी सामने रखा है। देशकाल का सिंहावलोकन करती मन्नू आपातकाल, कांग्रेस की पराजय, इंदिरा गाँधी हत्याकांड, हत्याकांड के बाद हुए दंगों का भी चित्र प्रस्तुत करती हैं। मन्नू ने अपनी इस कहानी में

विदेश यात्रा का भी वर्णन किया है। नवम्बर, 84 में साउथ ईस्ट एशिया की लेखिकाओं के सम्मेलन में कोलोन (जर्मनी) और फ्रैंकफर्ट में आयोजित पुस्तक मेले में जाने संबंधी विवरण प्रसिद्धि भर के लिए नहीं बल्कि हिंदी जगत के लेखकों का अपनी ही भाषा को कमतर आँकने की हीन भावना को व्यक्त करते हैं।

एक स्त्री के स्वावलम्बन, अस्मिता, बोल्डनेस और जीवन को अपने तरीके से जीने का प्रबल आग्रह करती 'एक कहानी यह भी' साहित्य और समाज को समझने की एक दृष्टि भी प्रदान करती है। मन्नू एक ऐसे समाज की माँग करती हैं, जहाँ स्त्री और पुरुष समानता के धरातल पर हों, न तो स्त्री का स्थान पुरुष से बढ़कर हो, न ही पुरुष का स्थान स्त्री से बढ़कर हो। अपने वर्तमान संदर्भों के कारण 'एक कहानी यह भी' अपनी पूर्ण प्रासंगिकता रखती है।

चंद्रकिरण सौनरेक्शा की आत्मकथा 'पिंजरे की मैना' समाज में नारी की हैसियत को हमारे सामने लाती है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था की वास्तविकता को हमारे सामने लाती यह आत्मकथा एक ऐसी स्त्री की सच्चाई है जिसकी जिंदगी को समाज गिरवी रखना चाहता है। उसकी चेतना पर अंकुश लगाया जाता है और विकास के रास्ते भी रोक दिए जाते हैं। "चंद्रकिरण सौनरेक्शा का आत्मकथ्य रचनाकार के रूप में पहचान बनाने की इच्छा मन में लिए और व्यावहारिक गृहस्थ जीवन के बीच रास्ता निकालने की कोशिश करती स्त्री की अभिव्यक्ति है।"[18]

'पिंजरे की मैना' उस स्त्री का सच है, जो घर-परिवार की खींचतान के बावजूद अपना निजी कोना तलाश लेती है। यह कोना उसका अपना है जो उसे अभिव्यक्ति का साहस देता है। जिम्मेदारियों से बचने की बजाए उन्हें निभाने का संदेश देती यह आत्मकथा संघर्ष के साथ ही जुझारू होने की प्रेरणा भी देती है।

यह आत्मकथा एक स्त्री की विवशता और उसकी पीड़ा को हमारे सामने लाती है। अपने ही बिस्तर को किसी परायी स्त्री द्वारा इस्तेमाल करते हुए देखने की विवशता! अपने ही पति को दूसरी स्त्री के साथ रात गुजारते हुए देखने की विवशता! चंद्रकिरण की पीड़ा इन शब्दों में पूरी तरह से उजागर हो जाती है - "उस कमरे का एक दरवाजा गैलरी में खुलता था, उससे मैं गैलरी में आ गयी और भीतर से द्वार बंद हो गया। क्रोध, अपमान, आत्मग्लानि से मेरा तन-मन जल रहा था। आँसू नहीं थे आँखों में। मैं किसी भी

कमरे में जाती, तो बात खुल जाती, गैलरी में अखबार रखे थे, उन्हीं को बिछाकर द्वार से टेक लगा कर बैठ गयी बीच-बीच में उंघ भी गयी हूँगी।"[19]

इतना सब सहने के बावजूद चन्द्रकिरण का धैर्य बरकरार रहता है। पति के अत्याचारों को सहती एक स्त्री पति द्वारा ही गुमनामी के अंधकार में कैद करा दी जाती है। पति से स्नेह के बजाए उसे मिलता है – अपमान, तिरस्कार और लांछन। उसका लेखन भी पति की प्रसन्नता और इच्छा का सवाल बन जाता है। अपने ही लेखन को प्रकाशित न करा पाने की पीड़ा उसे जीवनभर सालती रहती है।

चन्द्रकिरण सौनरेक्शा की वह आत्मकथा स्त्री-विमर्श को एक नया आयाम देती है। एक मध्यवर्गीय स्त्री की गाथा, जो मर्यादाओं के नाम पर सबकुछ सहती है। अपने हकों के लिए न तो वह पति की इच्छा के विरुद्ध जाती है और न ही परिवार की। परंपराओं में जकड़े हुए समाज में यह स्त्री अपने अनुभवों को एक भुक्तभोगी की नजर से दर्ज करती है। सामंती संस्कारों में जकड़े हुए पुरुष की कुंठा को भी यह आत्मकथा हमारे सामने लाती है। लेखिका उन सच्चाइयों पर से पर्दा उठाना चाहती है, जिनके कारण समाज पिछड़ा हुआ है।

"416 पृष्ठों की यह पुस्तक एक ऐसी साहसी स्त्री की शक्ति गाथा है, जिसने पुरुष के काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह को अपने धैर्य और धृति से विजित किया। अगर पुरुष ने उसे पिंजरे में डाला तो वह पिंजरे समेत उड़ना सीख गयी।"[20]

स्त्रियों के इन आत्मकथ्यों को एक क्रांतिकारी बदलाव के रूप में देखा जाना चाहिए। यहाँ परंपरागत नजरिए से भिन्न एक नया दृष्टिकोण उभरकर सामने आता है। आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होने के बावजूद एक स्त्री न केवल लैंगिक बल्कि संवेदना के स्तर पर भी अपमान और उपेक्षा का शिकार होती है। सामाजिक समस्याओं और परिवर्तन की विविध प्रक्रियाओं से गुजरते हुए इन स्त्री रचनाकारों की आत्मकथाएँ समाज को समझने की एक नयी दृष्टि देती हैं। एक स्त्री का आत्मकथा-लेखन उसकी जीवनयात्रा ही नहीं, बल्कि अदम्य जिजीविषा की सशक्त अभिव्यक्ति भी है। "स्त्री आत्मकथाओं को जीवन में स्वायत्तता की माँग और अभिव्यक्ति की अकुलाहट से जोड़कर देखना होगा। अपने बारे में लिखना केवल 'अहं' का पुनर्लेख नहीं है, बल्कि पाठक/आलोचक द्वारा 'अहं' की व्याख्या/विश्लेषण का प्रयास भी है। साथ ही यह रचनाकार और पाठक को आपस में जोड़ने वाली लोकतांत्रिक विधा है।"[21]

स्त्रियों की ये आत्मकथाएँ स्त्री के अधिकारों की बात कहती हैं। व्यवस्था के सच को सामने लाकर न्याय की माँग करती हैं। स्त्री के जीवन को – 'कुँआरी', 'विवाहिता', जैसे साँचों से पृथक उसके स्वतंत्र अस्तित्व की माँग करती हुई ये आत्मकथाएँ स्त्रियों के सपनों को हकीकत में बदलने का साकार रूप प्रस्तुत करती हैं। व्यवस्था के इतने दंशों को सहने के बावजूद ये स्त्रियाँ अपनी जिजीविषा को मरने नहीं देतीं। 'हम होगें कामयाब, एक दिन...' का उद्घोष करती हुई ये आत्मकथाएँ अपने वर्तमान संदर्भों के कारण पूर्ण प्रासंगिकता रखती हैं। बदलाव, उम्मीद और आशा जैसे सकारात्मक पहलुओं को समेटे हुए ये आत्मकथाएँ अपने समय और समाज को पूरी निर्भीकता के साथ प्रस्तुत कर देती हैं। इन सभी दृष्टियों से स्त्रियों की ये आत्मकथाएँ अपने समय का महत्त्वपूर्ण दस्तावेज बनकर सामने आती हैं।

¼[k½ e=;h i"ik dh vkRedFkk % ijaijk cuke uohurk

मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा परंपरा के साथ ही नवीनता का भी आग्रह करती है। लेखिका परंपराओं को तोड़ना नहीं, बदलना चाहती है। वह बदलाव की आकांक्षा लेकर नवीन निर्माण चाहती है।। यहाँ बदलाव का अर्थ है – नए रूप में परंपरा को रखना, उसे मनुष्य विरोधी होने से बदलकर मनुष्य के लिए सार्थक और सकारात्मक बनाना। लेखिका का मानना है कि समय के साथ परंपराओं में बदलाव आना आवश्यक ही नहीं, वरन् महत्त्वपूर्ण भी है। समय वही नहीं रहता, जो प्राचीन या मध्ययुग में था। समय वह भी नहीं रहेगा, जिसे हम आधुनिक समाज कहते हैं। परंपरा की नियमावली अगर परिवर्तित नहीं होगी, तो रूढ़ हो जाएगी। जैसे – पानी अगर बहता नहीं है तो सड़ने लगता है। रूढ़ियाँ मनुष्य जीवन के लिए कभी भी सकारात्मक और भविष्योन्मुखी नहीं होती। मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा इस दृष्टि से एक नयी इबारत गढ़ने की सार्थक कोशिश के रूप में हमारे सामने आती है। शिक्षा से लेकर रीति-रिवाजों के नवीनीकरण तक का प्रबल आग्रह हमें आत्मकथा में देखने को मिलता है।

मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा में जो महत्त्वपूर्ण बात देखने को मिलती है, वह यह है कि लेखिका पुरानी परंपराओं को तोड़कर निर्माण की आकांक्षा नहीं करती। उनकी नजर में तो परंपरा पुरानी भी हो सकती है और नयी भी; बशर्ते पुरानी परंपरा में नई बातें, नयी विधियाँ – प्रविधियाँ शामिल हों। परंपरा में नया रूप जोड़कर उसे सर्वथा नूतन और नवीन रूप प्रदान करना ही लेखिका का उद्देश्य रहा है। पुरुष सत्ता की सामंती व्यवस्था को बदलने का लेखिका का जो सपना है, वह अंत तक आते-आते अपना साकार रूप लेने लगता है और यहाँ सहभागिता का सकारात्मक और मिला-जुला रूप उपस्थित हो उठता है। लेखिका अपनी जमीन पर खड़ी होकर अपनी लड़ाई लड़ती है। उस जमीन को वह एक पल के लिए भी नहीं छोड़ती।

मैत्रेयी पुष्पा एक ओर परंपरागत रीति-रिवाजों और शोषण से उबरने की बात करती हैं, वहीं दूसरी ओर आत्मनिर्भरता और स्वावलंबी चेतना का प्रबल समर्थन भी करती हैं। आत्मकथा के माध्यम से मैत्रेयी पुष्पा विवाह संबंधी परंपरागत रूढ़ियों को तोड़ने की पुरजोर कोशिश करती हैं। पति-पत्नी के बीच असमानता की खाई को समाप्त कर समान अधिकार और समान कर्तव्यों के हक के लिए लेखिका समाज की पुरुषवादी मानसिकता से लड़ने का साहस भी करती है। वह चीख-चीख कर कहती है कि नारी कोई वस्तु

नहीं, बल्कि जीती-जागती इंसान है। लेखिका उस परंपरागत मूल्य को बदलने के लिए जी-जान से लड़ती है, जिसके तहत स्त्री को देह के घेरे में कैद कर उपेक्षा भरी निगाहों से देखा जाता है। स्त्री की अपनी स्वयं की पहचान के लिए लेखिका निरन्तर संघर्षरत दिखायी देती है। वह उन परंपराओं को चुनौती देती है, जो रीति-रिवाजों और कर्मकाण्डों के नाम पर स्त्री को आदर्शों के लत्तों से ढँक देना चाहती हैं।

मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा समय और समाज की जीवन्त और वास्तविक सच्चाई को हमारे सामने उजागर करती है। बात चाहे मैत्रेयी की हो, या फिर माँ कस्तूरी की। दोनों ही कदम-कदम पर उत्पीड़ित और अपमानित होने का दंश झेलती हैं। धर्म, परंपरा, कर्तव्य और मर्यादा के नाम पर स्त्री सदियों से शोषित होती आ रही है। आत्मकथा ऐसे अनेक प्रसंगों से भरी हुई है, जहाँ स्त्री को शोषण के लिए मजबूर किया जाता है। उसे चली आ रही लीक के साँचे में फिट होने के लिए बाध्य किया जाता है। कस्तूरी और मैत्रेयी दोनों ही इस बने-बनाए चौखटे से पृथक अपना स्थान स्वयं निर्धारित करती हैं। परंपरा की दुहाई देकर कस्तूरी को शोषित किया जाता है। समाज के नियमों के मुताबिक उसे विवाह करना पड़ता है। न चाहते हुए भी उसे रीति-रिवाजों के दलदल में धकेल दिया जाता है। कस्तूरी विवाह को अपनी नियति मानकर चुप नहीं बैठती, बल्कि अपनी इच्छा-आकांक्षाओं की अलख लिए, वह समाज से सीधे मुठभेड़ करती है। पति की मृत्यु के बाद वह 'सती प्रथा' का एक नया अर्थ हमारे सामने रखती है और कहती है – "जलकर मर जाने का कैसा व्रत ?"[22]

समाज के लिए 'सती' आदर्श है, कस्तूरी ऐसा आदर्श नहीं बनना चाहती, जो उससे उसकी जिंदगी ही छीन ले। 'सती' के इस नए अर्थ का, खेरापतिन दादी आदि के द्वारा विरोध भी किया जाता है। आज भी स्त्री को पति की मृत्यु के बाद निर्धारित ढाँचे में जीने को विवश किया जाता है। कस्तूरी का यह साहस उसे परंपराओं के नाम पर स्वयं को कुर्बान करने की गवाही नहीं देता है। इन अर्थों में कस्तूरी स्त्री जीवन को एक नई गति और नई दिशा देती है। वह नहीं चाहती कि मरने के बाद लोग उसे पूजें, उसे आदर्श पत्नी का दर्जा दें। अपने हकों के लिए लड़ती कस्तूरी अपने उद्देश्य में काफी हद तक सफल भी होती है। मैत्रेयी पुष्पा 'कस्तूरी' के ब्याह और फिर विधवा होने के माध्यम से समाज को उस सच्चाई से रूबरू कराना चाहती हैं, जहाँ स्त्री को परंपरा की दुहाई देकर उसे छलने का बार-बार प्रयास किया जाता है। स्त्री के शोषण को अपने पहलू में समेटे हुए ये रीति–रिवाज स्त्री के जीवन को उसकी अपनी इच्छानुसार जीने का

अवसर तक नहीं देना चाहते। मैत्रेयी और कस्तूरी दोनों ही समाज की नग्न सच्चाई को उजागर कर बदलाव और परिवर्तन की सार्थक कोशिश करती हैं। मैत्रेयी समाज को यह बताना चाहती है कि यदि 'ब्याह' स्त्री के लिए अनिवार्य है तो स्त्री की अपनी इच्छा भी अनिवार्य होनी चाहिए। जबरदस्ती नहीं, बल्कि उसकी इच्छा को मान कर विवाह की बात करना 'ब्याह' के नए अर्थों को हमारे सामने रखना है। मैत्रेयी यह नहीं कहती कि स्त्री को ब्याह से आजादी मिल जाए बल्कि उस का आग्रह इस बात को लेकर है कि जीवन के फैसलों में स्त्री की अपनी इच्छा और भूमिका दोनों ही सर्वप्रमुख और निर्णायक हों।

समाज मानता है कि स्त्री द्वारा अपने ब्याह की बात करना न केवल लज्जाजनक है, बल्कि अपराध भी है। मैत्रेयी समाज के इन पुराने पड़ चुके नियमों में बदलाव चाहती हैं। अपने ब्याह की बात वह खुद करती हैं। यहाँ मुद्दा समानता और सहभागिता का है। जब ब्याह के लिए लड़के से उसकी राय ली जाती है, तो फिर लड़की से क्यों नहीं ? वह भी तो कह सकती है कि मुझे ब्याह करना है। विवाह संस्थान में जो नियम-कानून स्त्री के लिए बनाए गए हैं, वह पुरुषों के लिए क्यों नहीं ? यही सवाल मैत्रेयी को बेचैन किए रहते हैं। विवाह के लिए दहेज की अनिवार्यता को त्यागकर योग्यता को महत्ता देना, शादी-ब्याह की बात करने पुरुष के बजाए एक स्त्री का जाना, ये सभी बिंदु एक नवीन निर्माण की तलाश करते नजर आते हैं। गाँव के सेठ-साहूकार कस्तूरी को बेटी के ब्याह के लिए रकम देकर ब्याज के चंगुल में उसे फँसाना चाहते हैं, लेकिन कस्तूरी ब्याह के नाम पर होने वाले आडम्बरों को ध्वस्त कर देना चाहती है। वह समाज के लिए एक मिशाल बनकर सामने आती है। वह चाहती तो अपनी इकलौती बेटी को धन-दौलत देकर विदा कर सकती थी, लेकिन वह ऐसा नहीं करती। रीति-रिवाजों की जिस खरीद-फरोख्त से वह गुजरी थी, अपनी बेटी को उस रास्ते से नहीं गुजारना चाहती। रस्मों के नाम पर होने वाले स्त्री के शोषण की जड़ को वह समाप्त कर देना चाहती है।

आत्मकथा के माध्यम से मैत्रेयी उन परंपराओं पर सीधा प्रहार करती हैं, जो स्त्री के सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक शोषण का कारण बनते हैं। वह महावर लगाना, कान छेदन, मुँह दिखाई, छोहक की भेली, गौने की प्रथा, खांड कटोरा की रस्म, देवता-पूजाई आदि रीति-रिवाजों का कच्चा चिट्ठा खोलने का साहस करती हैं। वह समाज को इन रस्मों की हकीकत बताना चाहती है कि कैसे एक स्त्री को इन रिवाजों की आड़ में बार-बार बलि की वेदी पर चढ़ाने की लगातार कोशिश की जाती है। मैत्रेयी विवाह के प्रसंग के माध्यम से ब्याह संबंधी कुरीतियों को दूर कर देना चाहती हैं। वह चाहती हैं कि

लड़का-लड़की का ब्याह उनकी अपनी इच्छा से हो। अनमेल विवाह, बालविवाह जैसे शोषण के पहलुओं को वह इस समाज से दूर कर देना चाहती हैं। एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात है – 'जातिप्रथा' जो अक्सर ही 'ब्याह' के लिए आड़े आ जाती है। मैत्रेयी जाति के इन बंधनों को न मानकर अपनी बेटी को अंतर्जातीय ब्याह करने की स्वीकृति दे देती हैं। लेखिका के लिए 'प्रेम' और 'निजइच्छा' का प्रश्न सबसे महत्त्वपूर्ण है, जाति, स्टेटस और धन-दौलत ये सारी चीजें स्त्री को सिर्फ बंधनों में कैद करती हैं। मैत्रेयी चाहती हैं कि 'ब्याह' स्त्री और पुरुष का पवित्र रिश्ता बनकर सामने आए, जिसकी नींव प्रेम और विश्वास पर टिकी हो। ब्याह संबंधी अपने नवीन मतों के कारण मैत्रेयी पुष्पा परंपरा को नूतनता से जोड़ती हुई हमारे सामने आती हैं। लेखिका का मानना है कि स्त्री और पुरुष का आपसी तालमेल ही दाम्पत्य-जीवन को सफल और सार्थक बना सकता है। स्वयं मैत्रेयी का वैवाहिक जीवन इसका सबसे बड़ा उदाहरण है।

समाज के विकास के लिए यह आवश्यक है कि परंपरा अपने परिवर्तित रूप के साथ ही आधुनिकता को ग्रहण करती चले। प्रासंगिक वही होता है, जो अपने समय और परिस्थितियों के अनुसार नवीनता को आत्मसात कर सके। मैत्रेयी इस सत्य को जानती हैं। 'कस्तूरी कुण्डल बसै' और 'गुड़िया-भीतर-गुड़िया' में वह पंरपरा और नवीनता के इस द्वंद्व को हमारे सामने रखती हैं। कस्तूरी और मैत्रेयी दोनों ही रूढ़ियों से संघर्ष करती हुई एक उन्नत समाज के निर्माण की आकांक्षा करती हैं। इसके लिए अपनी पूरी कोशिश भी करती हैं। कस्तूरी की माँ 'चाची' पंरपराओं में जकड़ी हुई हैं, वहीं कस्तूरी एक नई सोच लेकर हमारे सामने आती हैं। आत्मकथा में कुछ प्रसंग ऐसे भी आते हैं, जब मैत्रेयी की सोच कस्तूरी से अधिक प्रासंगिक जान पड़ती है। वहीं कुछ मामलों में कस्तूरी अपनी बेटी मैत्रेयी से भी अधिक आधुनिक दिखायी देती है। मैत्रेयी के दूसरी बार माँ बनने पर कस्तूरी, मैत्रेयी को आड़े हाथों लेती है। परिवार-नियोजन का पूरा ख्याल है कस्तूरी को, जबकि मैत्रेयी का ध्यान इस ओर जाता ही नहीं और वह तीन बार माँ बनती है। कस्तूरी मैत्रेयी को तब भी बहुत समझाती है, जब वह शादी के कुछ महीने बाद ही माँ बन जाती है। कस्तूरी की नजर में, कम उम्र में माँ बनना, एक स्त्री को दासत्व की जंजीरों में अधिक बाँधता है।

आत्मकथा में एक द्वंद्व की स्थिति दिखाई देती है। कस्तूरी और मैत्रेयी के माध्यम से यह द्वंद्वात्मक स्थिति पूरी तरह उजागर हो जाती है। लेखिका आत्मकथा में शोषण के उस तंत्र को भी दिखाती है, जिसमें सामान्य जन पिस रहा था। अंग्रेजों के जाने के

बावजूद समाज में स्त्री का शोषण करने वाले जमींदारों का चित्रण आज भी प्रासंगिक है। लगान वसूली का चित्रण आत्मकथा को वर्तमान समय से सीधे जोड़ देता है। साधनहीन होते हुए भी कस्तूरी अपनी दृढ़ इच्छाशक्ति से अपने परिवार की जिम्मेदारी अपने कंधों पर लेती है। आगे आने वाली पीढ़ी के लिए वह एक मिसाल का काम करती है।

भारतीय समाज की एक प्रमुख समस्या है – बच्चों की सोच को महत्त्व न दिया जाना। मैत्रेयी के साथ भी यही होता है। कस्तूरी अपनी बेटी के बालमन को जानना ही नहीं चाहती। एक स्त्री के लिए शिक्षा प्राप्त करना कितना कठिन और संघर्ष से भरा होता है, मैत्रेयी उसे बखूबी सामने रखती हैं। परंपरा तो यही कहती आई है कि स्त्री अपना जीवन चूल्हा-चौके में ही खपा दे। समाज के अनुसार ज्ञान का अधिकारी पुरुष है, स्त्री इस क्षेत्र से कोसों दूर है। कस्तूरी और मैत्रेयी इस चली आ रही परंपरा को तोड़कर समाज के सामने अपने साहस का परिचय देकर शिक्षा के प्रश्न को नए संदर्भों से जोड़ती हैं।

कस्तूरी पति की मृत्यु पर रोती नहीं है, बल्कि उसे तो अपने भविष्य की चिन्ता है कि कैसे विकास किया जाए ? सिर्कुरा वासियों का नजरिया धीरे-धीरे बदलने लगता है, जब कस्तूरी को नौकरी मिल जाती है। कस्तूरी कहती है, "पढ़ने जाना लोगों की आँखों में कैसा खटकता था। नौकरी मिलना उन्हीं लोगों को नियामत लग रहा है, क्योंकि यह आना-जाना पैसे से बंधा है।"[23]

कस्तूरी का व्यक्तित्व एक ओर उसकी अदम्य जिजीविषा, शक्ति और संघर्ष को हमारे सामने रखता है, वहीं दूसरी ओर उसके अंतर्विरोध और कमजोरियों को भी सामने ला देता है। वह पढ़ी-लिखी है, फिर भी उसे अपनी बेटी मैत्रेयी का लड़कों से बात करना पसंद नहीं। सिनेमा देखना उसकी नजर में पाप है। मैत्रेयी के ब्याह संबंधी दिक्कतों से आहत होकर अपनी बेटी को ही वह मुलजिम बना देती है।

मैत्रेयी एक नए विमर्श की बात करती हैं, जहाँ पुरुष विरोधी नहीं, बल्कि सहयोगी बनकर सामने आते हैं। कस्तूरी के ससुर, दादा चिमन सिंह और मैत्रेयी के पति डॉक्टर साहब ऐसे ही सहयोगी हैं, जो कस्तूरी और मैत्रेयी की बराबर मदद करते रहते हैं। कस्तूरी जब पढ़ने जाती है तब उसके ससुर बच्ची को नहाने से लेकर घर के काम-काज तक निपटाने में जरा भी नहीं हिचकिचाते। बाबा (कस्तूरी के ससुर) की बात को अपनी बेटी के सामने रखते हुए कस्तूरी कहती है – "तेरे बाप के मरने के बाद मैंने हिम्मत नहीं

हारी, क्योंकि उन्होंने हिम्मत साधी थी.....। मैं रोती न थी, मरने की बात सोचती थी। जिंदगी से मोह छोड़ देने वाले को संतान का, घर का और दुनिया का मोह जगाया–अरी कस्तूरी, मरना था तो हीरा की चिता में चढ़कर मर जाना था, लोग तुझे सती कहते। अब तो कहेंगे कायर। बेटी के पालन-पोषण और पति के लिए हुए कर्ज से मुँह छिपाकर भागने वाली डरपोक। मौत के खास में चाल-चलन पर भी शंका करेंगे, क्योंकि तू औरत है। ऐसा खोटा समय तुझ पर ही नहीं, मुझ पर भी आया था, जब हीरा की माँ नहीं थी। दूध मुँहा बच्चा मेरे पास था, मगर माँ का दूध न था। रोकर आंसू तो नहीं पिला सकती थी उसे। और न भागकर भगवान भरोसे छोड़ सकती थी। जीना, मरने से ज्यादा मुश्किल है और मुश्किलों से निकलना आदमी ही जानता है। तू तो दिलेरी और बुद्धिमानी दोनों की मालकिन है।"[24] मैत्रेयी भी दादा चिमन सिंह के यहाँ रहकर अपनी पढ़ाई जारी रखती है। यहाँ वह दादा की लाडली बेटी बनकर उनके परिवार के साथ पूरी तरह घुल-मिल जाती है। विवाह के समय 'खांड-कटोरा' वाले प्रसंग पर डॉक्टर मैत्रेयी का साथ देते हैं, अपने घरवालों का नहीं। कस्तूरी और मैत्रेयी दोनों ही पुरुषों के सहयोग से अपना विकास करती हैं। इस दृष्टि से मैत्रेयी का स्त्री विमर्श, पुरुष के विरोध की नहीं, बल्कि सहयोग की माँग करता है।

आत्मकथा में मैत्रेयी जातिव्यवस्था के प्रश्न को भी उठाती हैं। शिक्षा, विवाह और कविता लेखन संबंधी प्रसंग समाज में व्याप्त असमानता, छुआछूत संबंधी प्रश्नों को उभारते हैं। मैत्रेयी के बचपन का साथी 'एदल्ला' ऊँची जाति में जन्मे बच्चों का बोझा ढोने के लिए मजबूर है। वह उन बच्चों का खाना तक नहीं छू सकता और न ही उनके साथ बराबरी में बैठ सकता है। खाना छू जाने पर जाटों के लड़के उसे इतना पीटते हैं कि वह उठ नहीं पाता। मैत्रेयी पुष्पा यहाँ एक बेहद महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाती हैं कि यदि दलित के खाना छूने से सवर्णों का धर्म भ्रष्ट हो जाता है, तब फिर उनके द्वारा दलित को पीटने पर धर्म कैसे बचा रह सकता है ? आत्मकथा के माध्यम से मैत्रेयी पुष्पा समाज में व्याप्त जातिगत भेदभाव को जड़ से समाप्त करने की बात करती हैं। आज भी दलित अपमान झेलने को मजबूर हैं। निर्दोष होते हुए भी लगातार उत्पीड़न झेल रहे हैं। जाति संबंधी कुछ मामलों में कस्तूरी की सोच भी परंपरा से जकड़ी हुई है। अपनी सारी आधुनिकता और आजाद ख्यालों के बावजूद वह अपनी बेटी का ब्याह अपनी ही जाति में करना चाहती है, दादा चिमन सिंह के प्रस्ताव को वह बिना सोचे-बिचारे एक पल में ठुकरा देती है - "ऐसा आप सपने में मत सोचना, मुझे इसके पिता के गाँव वालों को जवाब देना है

पूछेंगे, लड़की कहां डाल आई ? जवाब दे पाऊँगी कुछ।"[25] मैत्रेयी के ब्याह के समय हबीबन द्वारा बर्तन माँजना, ट्रेनिंग सेंटर की घटना, सुजाता (मैत्रेयी की बेटी) का ब्याह संबंधी प्रसंग जाति के प्रश्न को हमारे सामने लाता है।

मैत्रेयी समाज में समानता चाहती है, जहाँ किसी प्रकार का भेदभाव न हो। आज भी दलितों को अस्पृश्य माना जाता है। महानगरों में फिर भी यह भेदभाव काफी हद तक कम हुआ है, लेकिन गाँव और कस्बों में दलितों के साथ पशुवत व्यवहार आज भी किया जाता है। मैत्रेयी समाज से इसी व्यवहार के बदलाव की उम्मीद लेकर एक ऐसे समाज की निर्मिति चाहती हैं, जहाँ वर्णगत, जातिगत असमानता न होकर मनुष्यगत समानता स्थापित हो। 'बाड़े की औरतों के लिए' शीर्षक से कविता लिखकर मैत्रेयी जाति व्यवस्था की सच्चाई को सबके सामने उजागर कर देती हैं -

"बाड़े के लोगों को पानी पिलाने वाली माटौन,
अपने कंधे और बांहों को देख
जो पुष्ट है मजबूत भी
नाजुक भोली भेड़ें मगर समझ रही हैं, तू भूखी है
उनके चौके में बने परांठों पर गवां देगी अपनी जात
और जानती है यह भी कि तेरी जात के बिना
सूख जाएँगे उनके हलक
काछिन काकी!
तू इसलिए काकी है कि गोड़ क्यारियाँ आए पौधे, खिलाए फूल
और ले नहीं अपने श्रम का दाम
इक छोड़ने की एवज में पीले बारिक बोन चायना के
- कप में चाय
मगर पौधे नहीं छोड़ने देंगे अधिकार
उगकर, बढ़कर और खिलकर, करेंगे तेरे श्रम और
हुनर की मुनादी
कौन रोक सकता है उन्हें ?
ये परांठे खाती नहीं, चाय पीते नहीं, बस
ग्रहण करते हैं तेरे हाथ का खाद, पानी
और मेहतर बहू!
नगर एक दिन जानने वाला है,
कि कितना जोर बांध रखा है अपनी बाजूओं में

तूने
संडास के रास्ते ही सही, आ गई आंगन तक
और चढ़ती जाती है छत पर
कैसे छिपा पाएगा अब यह कि कोई बाड़ा तुझे ?"[26]

समाज को मैत्रेयी की यह बात आखिर बर्दाश्त कैसे होती ? परिणामस्वरूप उसे वह कमरा खाली करना पड़ता है, जिसमें वह रह रही थी। यह समाज-व्यवस्था का सच है कि सच बोलने और वास्तविकताओं को उजागर करने वालों को कभी कुलटा, तो कभी वेश्या जैसे शब्दों से जोड़ दिया जाता है। मैत्रेयी के साथ भी यही होता है। इतना सब सहने के बावजूद मैत्रेयी अपने दृढ़ निश्चय पर अडिग रहती है।

परंपरा कहती है कि विधवा स्त्री की अपनी कोई इच्छाएँ नहीं होती। मैत्रेयी पुष्पा अपनी आत्मकथा के माध्यम से एक विधवा जीवन की हकीकत हमारे सामने लाती हैं। समाज की मर्यादा, नैतिकता के समक्ष कस्तूरी (विधवा) अपनी स्वाभाविक इच्छा का विकल्प समलैंगिकता में ढूँढ़ लेती है। मैत्रेयी यहाँ यह बताना चाहती हैं कि कैसे एक स्त्री अपनी सेक्स इच्छा को दमित करने के लिए मजबूर हो जाती है। कस्तूरी यहाँ एक नया मार्ग तलाशती है और वैधव्य को त्यागकर अपनी इच्छाओं की पूर्ति गौरा के माध्यम से करती है। यहाँ वे परिस्थितियाँ महत्त्वपूर्ण हैं, जिनके कारण एक स्त्री समलैंगिकता का मार्ग अपनाने को बाध्य हो उठती है। कैसा समाज है यह ? जहाँ स्त्री की इच्छाओं – आकांक्षाओं का कोई महत्त्व ही नहीं ? मैत्रेयी एक ऐसे समाज को निर्मित करना चाहती है, जहाँ स्त्री को अपने जीवन के मानदंड तय करने का पूरा अधिकार मिले। कस्तूरी की यौनाकांक्षा के माध्यम से मैत्रेयी एक नया विमर्श खड़ा करती है। आज भी समाज विधवा स्त्री को एक चौखटे के भीतर जीने को बाध्य करता है। मैत्रेयी इस चौखटे को तोड़कर एक बदलाव, एक निर्मिति चाहती हैं और परिवर्तन की उम्मीद लिए वह स्त्री के लिए सेक्स को वर्जित बनाने के ढोंग का खुलासा करती हैं। मैत्रेयी कहना चाहती हैं कि स्त्री को, पुरुषों के समान अधिकार और स्वतंत्रता मिलनी चाहिए, तभी एक उन्नत समाज का निर्माण होगा। जब पुरुष अपनी देह का स्वामी हो सकता है, तो स्त्री क्यों नहीं ? 'सेक्स के मामले में समानता' के मुद्दे को उठाकर मैत्रेयी पुष्पा 'फीमेल सेक्सुअल्टी' के सवाल को खड़ा करती हैं। भारतीय समाज-व्यवस्था पुरुष के सक्रिय होने की बात तो करता है, लेकिन स्त्री की नहीं। अपने वैवाहिक जीवन के माध्यम से मैत्रेयी इस धारणा को पूरी तरह ध्वस्त कर देती है। वह पति से सीधे सवाल करती है - "पहले बताओ कि मर्द की

कूबत नहीं थी, तो ब्याह क्यों किया ? हमने पार लगा दिया तो नखरे पसारने लगे ? समझे रहना कि नखरे-बखरे अच्छे नहीं लगते।"[27]

बिना किसी लाग-लपेट के मैत्रेयी पति की उस शंकादृष्टि को भी आत्मकथा में उजागर कर देती हैं, जो पत्नी के कौमार्य को लेकर अक्सर ही संदेह में रहता है। आत्मकथ्य के माध्यम से मैत्रेयी कहना चाहती है कि – गया वह जमाना, जब पत्नी पलंग पर बैठकर पति की प्रतीक्षा करती रहती थी कि कब स्वामी आएँ और घूंघट उठाएँ। मैत्रेयी अपना घूंघट स्वयं उठाना जानती है और यह आधुनिक समय की माँग भी है कि स्त्री को अपनी अभिव्यक्ति खुद ही करनी होगी।

आत्मकथा के माध्यम से मैत्रेयी पुष्पा एक स्त्री की राजनीतिक सक्रियता के मुद्दे को भी उठाती हैं साथ ही देश के राजनीतिक दाव-पेंच और शासन-व्यवस्था की पोल को काफी हद तक खोल देती हैं। मुख्यमंत्री द्वारा कस्तूरी के पद और उसके आंदोलन को खत्म कर उसे जेल में बंद करने संबंधी प्रसंग एक स्त्री के सच को हमारे सामने लाते हैं। स्त्री को 'औरत जात' कहकर बहलाने की बात की जाती है, लेकिन कस्तूरी समाज और शासन व्यवस्था की इन झूठी बातों में नहीं आती है। यहाँ उसका स्वर सम्पूर्ण स्त्री-जाति की चेतना के स्वर को हमारे सामने लाता है। मैत्रेयी का यह कहना वास्तव में प्रासंगिक है – "जब तक स्त्री आजाद नहीं होगी, उसके विचार स्वच्छंद नहीं होंगे, तब तक हम कैसे मान लें कि देश ने आजादी हासिल कर ली है या फिर देश आजाद है।"[28]

मैत्रेयी पुष्पा की यह आत्मकथा ग्रामीण भारत की समस्याओं, शासन-व्यवस्था और समाज-व्यवस्था के बाह्याडम्बरों को अपने संपूर्ण अंतर्विरोधों के साथ चित्रित करती है। व्यवस्था के दमन को झेलने के बावजूद यहाँ स्त्री अपने सपने को नहीं त्यागती। जीवन से लड़ते हुए वह जीवन जीती है। 'अब घर का कारागार टूट रहा है' का उद्घोष, न केवल एक स्त्री के बंधनहीन जीवन जीने का सूचक है, बल्कि एक नवीन और उन्नत समाज के निर्माण का परिचायक भी है। आत्मकथा की सार्थकता इस बात में है कि लेखिका एक स्त्री के माध्यम से सम्पूर्ण समाज के विनिर्मित होने की आकांक्षा हमारे सामने रखती है। कहीं कोई ध्वंस नहीं और न ही विनाश, फिर भी समाज बदल रहा है, नियम उसके अनुकूल हो रहे हैं, यही तो परिवर्तन है। बदलाव की यही उम्मीद, आत्मकथा को वर्तमान संदर्भों से जोड़ देती है। अब स्त्री 'दासी' या 'देवी' नहीं है उसका स्वतंत्र व्यक्तित्व है। आज स्त्री दया, लज्जा, ममता, करुणा आदि गुणों का प्रतीक मात्र न होकर अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखती है। वह अपने -गौरव को पहचानने लगी है कि वह मात्र भोग्या नहीं है। आधुनिक समाज में स्त्री की जो छवि उभरकर सामने आयी है, वह

प्राचीन और मध्यकालीन संस्कारों को पूरी तरह से तोड़ती है। अब वह धर्म, परंपरा के चक्रव्यूह में फँसने की बजाए शोषण के इन औजारों पर कठोर प्रहार कर रही है। स्त्री की इस लड़ाई में पुरुष भी यह महसूस करने लगे हैं कि स्त्री को भी समानता का हक मिलना चाहिए। 'गुड़िया भीतर गुड़िया' में अन्त तक आते -आते मैत्रेयी के डॉक्टर पति, पत्नी के सहयोगी बनकर सामने आते हैं। बदलाव की जो आकांक्षा मैत्रेयी ने की थी, वह धीरे-धीरे सच होने लगती है। मैत्रेयी के यहाँ स्त्री एक सशक्त इकाई बनकर सामने आती है – व्यक्ति, परिवार और राष्ट्र की।

मैत्रेयी पुष्पा की यह आत्मकथा इक्कीसवीं शताब्दी की दहलीज पर खड़ी, स्त्री मुक्ति के कगार को छूने को लालायित एक ऐसी स्त्री की संघर्ष–गाथा है, जो छल-पोषित पंरपरा से मुक्ति चाहती है। इसके लिए वह विद्रोह भी करती है। धीरे-धीरे उसका विद्रोह साकार रूप लेने लगता है और विद्रोह के उस भंवर में रूढ़ियों, परंपराओं, लांछन और लोकाचार के कुंडल टूटने लगते हैं। न केवल 'आत्मकथा' का शीर्षक बल्कि 'अध्यायों' के शीर्षक भी मैत्रेयी कबीर से उधार लेती हैं। यहाँ ये अध्यात्मिक प्रतीक अपने रहस्यवादी कुंडलों से मुक्त होकर एक नया अर्थ देते हैं। "मैत्रेयी इस समाज को बदलना चाहती है। वह लुकाठी लिए समाज और साहित्य के बाजार में खड़ी है। देखें, किस -किसमें उनके साथ चलने का साहस है ?"[29] अंत तक आते-आते मैत्रेयी अपनी सारे कुंडलों को त्यागकर एक नया संदेश देती है – कि स्त्री की कस्तूरी अब किसी कुंडल में कैद न होकर उसके स्वातंत्र्य, साहस, सामर्थ्य और स्वाभिमान में है।

## ¼x½ lkekftd eY; vkj e=;h i"ik dh vkRedFkk

यूँ तो 'सामाजिक मूल्य' शब्द उन नियमों को परिभाषित करता है, जिन्हें मनुष्य जीवन के हित में रखा जाता है। समाज ने जो नियम बनाए हैं, वे सभी ऐसे व्यवहारगत नहीं हैं, जो प्रत्येक मनुष्य के लिए सुखदायी या कल्याणकारी हों। समाज द्वारा निर्धारित मूल्य मनुष्य-जीवन के अनुकूल भी हो सकते हैं और प्रतिकूल भी। मैत्रेयी पुष्पा की यह आत्मकथा कहीं सामाजिक मूल्यों में हस्तक्षेप करती है तो कहीं समर्थन की मुद्रा में खड़ी हो जाती है। आत्मकथा के बहाने मैत्रेयी पुष्पा नए मूल्यों को गढ़ती हैं। लेखिका उन्हीं मूल्यों को स्वीकार करती है, जो वर्तमान संदर्भों में भी प्रासंगिक हों। मैत्रेयी एक ऐसा विमर्श खड़ा करती हैं, जो सिद्धांतों से गढ़ा न होकर समाज की सच्चाइयों से पूरी तरह लैस है। यहाँ बात नियमों की नहीं, जीवन की वास्तविकताओं की है।

मैत्रेयी पुष्पा की यह आत्मकथा कलाकृति से बढ़कर 'जीवन की घुटन' है। मैत्रेयी जिन्दगी के धूल-धक्कड़ से लड़ते हुए गिरकर भी, फिर उठने का हौसला रखती है। वह आज की पीढ़ी को एक नया खुला आकाश देना चाहती है। आत्मकथा का पहला भाग 'कस्तूरी कुंडल बसै' स्त्री के हक में कस्तूरी और मैत्रेयी का अविश्रांत युद्ध है। दूसरा भाग "'गुड़िया–भीतर–गुड़िया' सभ्यता में निहित असभ्यताओं का एक ऐसा दर्दनाक दस्तावेज है, जिसके पन्ने 'सदाचार' के खून से लाल हैं, लेकिन जिसकी लाली (मैत्रेयी का नाम है) एक नए सूर्योदय की अरूणिमा की ओर इशारा करती है।"[30]

एक ओर उत्पीड़न, यातना और अपमान का प्रत्यक्ष चित्रण, दूसरी ओर आत्मविश्वास और स्वाभिमान का हौसला, एक ऐसी संस्कृति का निर्माण करता है, जो परंपराओं में जकड़े वर्चस्ववादी समाज को पूरी तरह से झकझोरती है। मैत्रेयी अपने जीवन के अँधेरों को दूसरों के सामने रखकर जीने का हौसला देती है। लाज-शर्म के पर्दे ऐसे फटे कि तन के साथ मन भी समाज द्वारा बनायी गई चौखटों को लांघकर एक नयी संस्कृति की निर्मिति चाहने लगा। बुंदेलखंड में पली-बढ़ी मैत्रेयी को यदि साहित्य की 'लक्ष्मीबाई' कहा जाए, तो गलत न होगा।

वास्तव में, यह आत्मकथा समाज को परिवर्तित करने के उद्देश्य से लिखी गई है। मैत्रेयी समाज के उन नियमों में बदलाव चाहती है, जो स्त्री को एक सजी-सँवरी गुड़िया मानते हैं। स्त्री का अपना अस्तित्व भी होता है। यह आत्मकथा उसी अस्तित्व की अभिव्यक्ति है। आत्मकथा में मैत्रेयी परंपरा, रूढ़ि, पाखंड और यथास्थितिवाद के स्थान पर

आधुनिकता और परिवर्तनशीलता को महत्त्व देती हैं। मैत्रेयी ऐसा समाज चाहती है, जहाँ आदर्शवादी मानसिकता न होकर समय के अनुसार परिवर्तित होने की विशाल आकांक्षा हो। बदलाव, परिवर्तनशीलता के बिना समाज धीरे-धीरे अपना अर्थ खोने लगता है। समय के बदलते तापमान में सामाजिक-संदर्भों का बदलना न केवल महत्त्वपूर्ण बल्कि आवश्यक भी है। स्त्री के जीवन को परखती यह आत्मकथा सामाजिक रीतियों-कुरीतियों के अनेक पक्षों को अपने में समेटे हुए है। मन पीड़ा से भर उठता है कि कब तक हमारा समाज स्त्री को अयोग्य ठहराता रहेगा ? आज स्त्री उन क्षेत्रों में भी अपने कदम रख रही है, जो उसके लिए अब तक वर्जित माने गए थे। पुरुष सत्ता को चुनौती देती यह स्त्री समाज द्वारा सभ्य कहे जाने वाले संस्कारों और आचरणों में प्रशिक्षित होने के बजाए अपने संस्कारों को स्वयं गढ़ने का माद्दा रखती है। मैत्रेयी अपनी उस स्वाभाविकता को कहने में भी नहीं हिचकिचाती, जिसे छिपाने के लिए स्त्री को बाध्य किया जाता है।

स्त्री की नियति की लक्ष्मण रेखाओं को लांघती यह आत्मकथा अस्तित्व की एक नयी कहानी कहती है। "मैत्रेयी सच्चाइयों के भीतर छिपी वास्तविक सच्चाइयों से रू-ब-रू हो जिन टीसों-कचोटों-अपमानों से दंशित होती है, उन्हें औसत भारतीय नारी की तरह अपने अंतर्मन में विधि की काई नहीं संजोती, बाहर उलीच देती हैं।"[31]

स्त्री के लिए समाज की पहली शर्त 'मर्यादा' है, जिसे उसका जीवन मूल्य माना गया है। इस जीवनमूल्य को वह कभी स्वीकार करती है, तो कभी अस्वीकार। जब वह अस्वीकार करती है, तो एकप्रकार से समाज की दोषी हो जाती है। यहाँ सवाल यह उठता है कि क्या थोपी हुई मर्यादा वाकई जीवनमूल्य है ? क्या उसे 'सामाजिक मूल्य' कहा जा सकता है? 'मर्यादा' – मनुष्य का आंतरिक संवेदनात्मक पहलू, जिसके तहत वह अपने जीवन को गुणात्मक मूल्यों से जोड़ता है। इसी मर्यादा के नाम पर वह मनुष्यता के लिए सहयोग देने का वादा भी अपने-आप से करता है। मर्यादा के तहत दूसरों को कष्ट न देने की बात की जाती है, सवाल है कि यह कैसी मर्यादा है जहाँ 'सीता' को महज लक्ष्मण रेखा लांघने पर ही इतनी बड़ी सजा दे दी जाती है। मैत्रेयी की इस आत्मकथा में सीता की अग्नि-परीक्षा जैसी मर्यादाओं का निषेध है, द्रौपदी द्वारा पाँच पतियों के वरण का अस्वीकार है। पतिव्रता की परिभाषा के तहत जो मूल्य स्त्री के अस्तित्व से लेकर व्यक्तित्व तक को शिकंजे में कसते हैं उनके लिए आत्मकथा में कोई जगह नहीं छोड़ी गई है।

सामाजिक मूल्यों के तहत 'नैतिकता' को भी एक जरूरी मूल्य माना गया है। नैतिकता के तहत मनुष्य स्वंय को मनुष्यता के गुणों से सम्पन्न करते हुए खुद को संयमित भी करता है। बात जब स्त्री की आती है, तो समाज द्वारा उस पर 'नैतिकता' को जबरन थोप दिया जाता है। उसके लिए 'नैतिकता' स्वतंत्र निर्णय का नहीं, बल्कि दबाव और जबरदस्ती का प्रश्न बना दिया जाता है। समाज द्वारा स्त्री के लिए जो नैतिकता गढ़ी गई है, उसका उद्देश्य उसके जीवन के विकास को अवरूद्ध करने में ही निहित है। उसकी दसो इन्द्रियों पर पुरुष सत्ता का अधिकार मानते हुए सामाजिक मूल्यों का निर्धारण किया जाता है। आँख, नाक, कान ये सारी इन्द्रियाँ नैतिकता के नाम पर समाज द्वारा बंधक रही हैं। समाज द्वारा 'स्त्री-शिक्षा' को नहीं, बल्कि 'स्त्री-कर्तव्य' को मूल्य बनाया गया है। घूँघट के अन्दर रहने वाली स्त्री, 'नैतिकता' की पोषक हो जाती है और घूँघट उघाड़ने वाली अनैतिक ? यह है समाज का पैमाना, जहाँ विचार नहीं, व्यवहार नहीं बल्कि जीने का ढंग मूल्यों का अनिवार्य पैमाना बना दिया जाता है।

स्त्री को भी गति और विस्तार चाहिए, ताकि वह भी सामाजिक गतिविधियों में अपनी तरफ से हस्तक्षेप कर सके। मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा में यही हुआ है। यहाँ हम मर्यादाओं और नैतिकताओं को नयी नजर से देखने लगते हैं। तथाकथित आदर्श क्षतिग्रस्त होना शुरू हो जाते हैं। आत्मकथा पढ़कर लगता है, जैसे यह स्त्री की सामाजिक मूल्यों से मुठभेड़ हो। आत्मकथा में अभिव्यक्त स्त्री बने-बनाये नियमों को तोड़-फोड़कर एक नवीन निर्माण करती है। स्त्री का यह बदलाव समाज को रास कहाँ आता है ? यह सच है कि बिना टूटे-फूटे नया नहीं बनता। वह नया तो बिल्कुल नहीं, जो गुलामी से स्वतंत्रता की ओर ले जाता हो। यह आत्मकथा उसी नए के निर्माण के लिए प्रयत्नरत दिखाई देती है।

समाज द्वारा स्त्री के लिए तीन बातें मुकर्रर की गई हैं, जिनसे उसका जीवन शांत ढर्रे पर चल सकता है। ये हैं – सेवा, श्रम और सेक्स। इन तीनों चीजों से यदि वह पुरुष या परिवार को संतुष्ट कर सकती है, तो वह तथाकथित सामाजिक मूल्यों पर खरी उतरती है। दूसरी और यदि वह अपनी तर्क-बुद्धि से इस दायरे में काम लेने लगती है, तब वह समाज-विद्वेष से जोड़ दी जाती है। समाज का यह नजरिया स्त्री के लिए सकारात्मक हो ही नहीं सकता। मैत्रेयी स्त्री के इन्हीं जन्मसिद्ध अधिकारों के लिए लड़ती हैं।

आत्मकथा के माध्यम से मैत्रेयी पुष्पा समाज द्वारा निर्धारित मूल्यों पर नए ढंग से विचार करती हैं। बहुत से मूल्य बदले हैं और बहुत से मुद्दे ऐसे जुड़े हैं, जो पुरुषवादी वर्चस्व को पूरी तरह से तोड़ते हैं। पितृसत्ता ने स्त्री पर शुचिता, पवित्रता और अक्षुण्ण कौमार्य का जो विधान कानून की तरह लगाया है, उसमें दरार पड़ने लगती है। स्त्री-धर्म का सिंहासन हिलने लगता है, क्योंकि अब वह बनी-बनायी मूर्ति से मनुष्य होने की प्रक्रिया में अपने-आपको देखने लगी है। यही स्त्री जब माँ की भूमिका में आती है, तो अपनी अगली पीढ़ी को वे सपने दिखाती है, जो उसकी अपनी आँखों में हैं। भविष्य की आकांक्षाओं के सपने और अपनी पहचान सिद्ध करने के सपने।

'गुड़िया भीतर गुड़िया' की भूमिका में लेखिका ने लिखा है - "हाँ लिखकर ही तो मैंने जाना कि न मैं धर्म के खिलाफ थी न नैतिकता के विरुद्ध, मैं तो सदियों से चली आ रही तथाकथित सामाजिक व्यवस्था से खुद को मुक्त कर रही थी।"[32] Purity और Virginity से बँधे स्त्री समाज की मौन चुप्पी को मैत्रेयी तोड़ना चाहती हैं। वह स्वपहचान की बात करती है। इतिहास औरतों की कुर्बानी का पुलिंदा रहा है। आने वाले समय का इतिहास बदलना चाहिए, मैत्रेयी इसके लिए काफी हद तक जद्दोजहद भी करती है। मैत्रेयी का शंखनाद है – "मैंने अपने समाज में लोकतांत्रिक विधान की घोषणा की है कि औरत को हर तरह से सह नागरिक का दर्जा मिलना चाहिए।"[33]

समाज के अनुसार स्त्री को न आर्थिक-आत्मनिर्भरता सुखी बना सकती है और न चेतन सम्पन्नता। पारंपरिक कर्मकांड ही उसे सुरक्षित और सुखी रहने की गॉरटी दे सकते हैं। वर्ण-व्यवस्था की बेड़ियों को काट फेंकने का साहस मैत्रेयी को नए और ऊर्जावान संकल्पों से पूरी तरह भर देता है। अपने सपनों को हकीकत में बदल देने की यही दृढ़ता मैत्रेयी से नए मूल्यों का निर्माण करवाती है। आत्मकथा में लेखिका ने अपने जीवन की हर उस घटना को खोला है जो स्त्री को दोयम दर्जे में रखने की बात करती हैं। यह कैसा मूल्य है ? जहाँ स्त्री को बेटे की माँ होना अनिवार्य माना जाता है। स्त्री की पारिवारिक और सामाजिक स्थिति पुत्र के होने पर ही क्यों निर्भर करती है ? 'बेटा' वंशवृद्धि का कारक बन जाता है और 'बेटी' कुलविनाश का प्रश्न? मैत्रेयी समाज के इन मूल्यों में बदलाव चाहती हैं। मैत्रेयी के ये शब्द समाज के सच को उजागर कर देते हैं, जब वह अपनी बेटी से कहती है - "बबली तेरे पिता के परिवार की परंपरा क्या है ? यह परिवार उस समाज का हिस्सा है, जहाँ औरतें केवल शरीर रूप में होती हैं जो पुरुषों की सेवा सुविधा के लिए श्रम कर सकें। इसके अलावा वे योनि रूप में होती हैं, पुत्रवती

होकर वंश बेल बढ़ाएँ, बेटी पैदा करें तो अगली पुरुष पीढ़ी के लिए काम आएँ।"[34] स्त्री को अपने 'स्व' को स्थापित करने के लिए इस समाज से लड़ना होगा। मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा समाज को यही संदेश देती है।

मैत्रेयी की यह आत्मकथा मूल्यों की नहीं, बल्कि जीवनमूल्यों की बात कहती है। ऐसे मूल्य, जो जीवन को गतिशीलता दें, न कि उसे जड़ बनाएँ। समाज के लिए 'मानस' आज भी आदर्श है – राम जैसा मर्यादा पुरुष, सीता जैसी पत्नी, भरत जैसा भाई आदि...। बेशक ये आदर्श भारतीय संस्कृति को 'गौरव' तो प्रदान करते हैं, लेकिन 'जीवन' नहीं। व्यक्ति का जीवन मानस की चौपाई भर नहीं है। यदि ये मूल्य व्यक्ति को जीने की आजादी नहीं देते, तो व्यर्थ हैं। मैत्रेयी की आत्मकथा ऐसे ही मूल्यों के स्वीकार और अस्वीकार के प्रश्नों से उलझती है।

समाज के लिए स्त्री वह 'सती' है, जो अपना तन-मन बारकर पति और परिवार के चरणों में सेक्स और श्रम के साथ अर्पित कर दी जाती है। स्त्री के प्रेम को व्यभिचार से जोड़ दिया जाता है। "'प्रेम जो प्रेमी का स्पर्श करना चाहता है, उसके दुखदर्द को छूना चाहता है, उसको तकलीफों और प्राणलेवा हमलों से बचाना चाहता है किसी भी मनुष्य के अधिकार में आता है तो फिर स्त्री के हक में क्यों नहीं ?[35] मैत्रेयी संबंधों के खोखलेपन को पूरी तरह से उजागर कर देती हैं। उनका मानना है कि आर्थिक और सामाजिक आत्मनिर्भरता तब तक बेमानी ही रहेगी, जब तक संबंधों के स्वीकार और अस्वीकार का साहस एक स्त्री के अंदर पैदा नहीं हो जाता।

स्त्री के लिए 'लज्जा' एक बहुमूल्य गुण माना गया है। सेक्स के नाम पर उसका शोषण तो किया जाता है, लेकिन सेक्स की बात पर उसे चुप रहना सिखाया जाता है। यहाँ लज्जा आड़े आ जाती है। यही लज्जा स्त्री के भीतर मानसिक तौर पर भय और आतंक का रूप ले लेती है। बात जब सच्चाई की आती है, तो हुकूमत का सिंहासन हिलने लगता है। मैत्रेयी की आत्मकथा में बुर्के और घूँघट में लिपटी औरत नहीं, बल्कि अपनी सांसों के लिए छटपटाती औरत है। समाज ऐसी स्त्री को अपराधी मानता है, जो अपनी कर्मेंद्रियों के साथ ही ज्ञानेंद्रियों को भी दासत्व से मुक्त कराने में लगी हो। प्रेम के हरेक क्षण को शुभ मुहर्त मानती मैत्रेयी उन मूल्यों को ध्वस्त करती नजर आती हैं, जिसके तहत धर्म और जाति के नाम पर पितृसत्तात्मक समाज द्वारा बंवडर खड़ा कर दिया जाता है। स्त्री के प्रेम को हक के साथ ही आजादी भी मिलनी चाहिए। बंदिशें, स्त्री के लिए ही क्यों ? ऐसे सवालों से आत्मकथा सीधे मुठभेड़ करती है। वही मूल्य हमारे

लिए उपयोगी हैं, जो हमारे जीवन को गति और विस्तार दें। ऐसे मूल्यों का क्या महत्त्व, जो हमारी सोच को संकुचित कर हमसे जीने का हक ही छीन लें ? आत्मकथा के माध्यम से मैत्रेयी पुष्पा ऐसे मूल्यों को पूरी तरह से ध्वस्त कर देती हैं। जीवन बंदिशों का नहीं, बल्कि स्वेच्छाओं का प्रश्न होता है। मैत्रेयी ऐसे ही जीवन की माँग करती हैं। जहाँ अस्वीकार और निषेध नहीं बल्कि वरण और स्वीकार का मिला-जुला रूप हो।

स्त्री की स्वाभाविकता के विरुद्ध उसी से कराए जाने वाले कृत्य सामाजिक मूल्य हो जाते हैं ? ऐसे मूल्य, जो उसे ढक-बांधकर उसकी इंद्रियों को सुन्न करके कारगर साबित होते हैं। ऐसे ही मूल्यों से, समाज सदियों से सक्रिय है। समाज के इन्हीं मूल्यों को संस्कृति का रूप दे दिया गया। क्या कभी एक स्त्री से यह पूछा गया कि उसे ये मूल्य कितना सुख देते हैं ? मूल्यों के ऐसे ही कटघरे स्त्री के लिए सुरक्षा घर बना दियए गए हैं। "'अपनी आचारसंहिता के शब्दकोष में से रंडी, वेश्या, पुश्चली और बदकार, बदलचन जैसे शब्द निकालकर उसके वजूद पर दे मारें। यह शब्द खासतौर पर उस औरत के लिए सुरक्षित और आरक्षित हैं, जो मनुष्य होने के नाते अपनी इच्छाओं का इजहार करती है। सपनों का हक रखती है।"[36] स्त्री-पुरुष संबंधों की नियमावली में भी शर्तें इतनी कि स्त्री के वजूद को ही मिटा दिया जाता है। पुरुष संबंध बनाता है और स्त्री संबंधी बना दी जाती है। ऐसी संबंधी, जो अपनी चेतना को शून्य कर दे।

मैत्रेयी चेतना शून्य नहीं, बल्कि चेतना-संपन्न स्त्री को अपना आदर्श मानती हैं। स्त्री को अपने मूल्य स्वयं निर्धारित करने होंगे, क्योंकि "रामराज्य की सीमाओं के भीतर सीताओं का गुजर नहीं।"[37] आत्मकथा में ऐसे अनेकों प्रसंग हैं, जब मैत्रेयी समाज द्वारा थोपे गए मूल्यों को न अपनाकर अपने मूल्य स्वयं गढ़ती है। चाहे वह विवाह-संबंधी प्रसंग हो या फिर सुहागरात में उल्टी रति-क्रिया संबंधी प्रसंग।

समाज द्वारा निर्धारित मूल्यों ने स्त्री को सिर्फ लिंग माना है। जब वह इन मूल्यों को अस्वीकृत कर देती है, तो सजाएँ इतनी कठोर दी जाती हैं कि उसका जीना भी कठिन हो जाता है। स्त्री के लिए 'use and throw' का निमय आज से नहीं, सदियों से जारी है। मैत्रेयी परिवर्तन चाहती है। आत्मकथा में लेखिका ने लिखा है - "मुझे स्त्री-जीवन की वह छवि पेश नहीं करनी है जो मर्यादा, शील-शुचिता और इज्जत के नाम पर स्त्री की नकली तस्वीर है, दमन और दबाव के कारण आंखें झुकाए हुए ....आवाज को

घूंटे हुए ...मैं....उनमें से एक सेवा, श्रम और सेक्स के लिए समर्पित ... बदलाव चाहिए ही चाहिए।"[38]

मैत्रेयी पुष्पा की यह आत्मकथा एक स्त्री की कथा भर नहीं, बल्कि बंधनों और वर्जनाओं से जूझती एक स्त्री का आत्मीय संवाद भी है। गृहस्थी के नाम पर बाँधती भूमिकाएँ हर स्त्री के भीतर एक मैत्रेयी को जन्म देती हैं। ऐसी मैत्रेयी, जो ज्ञान और संस्कारों की बड़ी-बड़ी बातें नहीं कहती, बल्कि अपने जीवन के अनुभवों को हमारे सामने रखती है। मैत्रेयी समर्पण करना भी जानती है लेकिन तभी तक, जबतक उसकी भावनाओं का सम्मान किया जाए। समाज द्वारा स्त्री के लिए निर्धारित मूल्य 'समर्पण' के नए और व्यापक अर्थ को मैत्रेयी हमारे सामने रखती हैं। मैत्रेयी के अनुसार 'समर्पण' का अर्थ स्त्री-पुरुष का एक-दूसरे के प्रति सम्मान और सहयोग है। यदि स्त्री पुरुष की भावनाओं का सम्मान कर सकती है, तब फिर पुरुष स्त्री की भावनाओं का सम्मान क्यों नहीं कर सकता ?

संकल्प, नई राहों की खोज और गढ़ी गई नयी भूमिकाएँ जीवन का ऐसा चित्र खींचती हैं कि सृजन का पूरा संसार आंखों के सामने उपस्थित हो उठता है। सती प्रथा की परंपरा को ध्वस्त करती मैत्रेयी अपनी संस्कृति खुद गढ़ती हैं। हर विकार और वासना को ताल-ठोक कर सबके सामने उघाड़ देने की ईमानदारी, मखमली आवरणों में ढंकी सच्चाइयों पर से पर्दा उठाने की जिद और शास्त्रों द्वारा गढ़े गए मूल्यों को खंड-खंड कर देने का साहस! तन और मन को अलग-अलग करने वाले दायित्वों के अस्वीकार का साहस। सुरक्षा के नाम पर स्त्री को बचपन से ही पुरुष की शरण में रहना सिखाया जाता है। मैत्रेयी स्त्री की इसी वस्तुमय प्रतिष्ठा को पूरी तरह तोड़ देती हैं। यह आत्मकथा स्त्री की अपनी उपलब्धि का एक प्रामाणिक दस्तावेज है।

आखिर क्यों यह समाज मानता है कि स्त्री, पुरुष को मीत नहीं ईश्वर की तरह पूजे ? अपने प्रेम को मारती चली जाए। स्त्री की इसी नैसर्गिकता को पाप कहा गया। स्त्री के प्रेम को अवैध कहना उसका अपमान नहीं तो और क्या है ? वह तो उस पति को भी अपने प्रेम का भागीदार बना लती है, जो उसके जीवन में उसकी अपनी मरजी से आया ही नहीं। स्त्री अगर प्रेम दे सकती है, तो लेने की हकदार क्यों नहीं ? देह पर प्रतिबंध और शक्ति पर विश्वास नहीं। औरत कितने बड़े कारागार में है ? इसका अंदाजा लगाया जा सकता है। कहीं मूल्य तो कहीं मान-मर्यादा जैसे प्रश्नों से उसे जोड़ दिया

जाता है। आत्मकथा के माध्यम से मैत्रेयी पुष्पा स्त्री की स्वतंत्रता, इच्छा और अस्मिता जैसे नए मूल्यों को समाज के समक्ष खड़ा करती हैं। स्त्री के अस्तित्वहीन व्यक्तित्व को प्रमुख और निर्णायक व्यक्तित्व में बदलने के लिए वह समाज से भी लड़ती हैं।

बुंदेलखंड, जहाँ आज भी स्त्री शिक्षा को उतनी महत्ता प्रदान नहीं की जाती, जितनी कि पुरुष शिक्षा को। 'खिल्ली'गाँव में पलने-बढ़ने वाली मैत्रेयी न केवल 'शिक्षा', बल्कि 'राजनीति' को स्त्री के अधिकारों में शामिल कर देती हैं। यहाँ मैत्रेयी का सवाल यह है कि क्या ज्ञान पर पुरुषों ने अपना पेटेन्ट करवा रखा है ? मैत्रेयी जैसा – साहस आज हर स्त्री को करना होगा। स्त्री को बनी-बनायी परंपरा में देखने की बात तो समाज करता है, लेकिन उन परंपराओं से उबारने की नहीं। आखिर क्यों ? कब यह समाज स्त्री को उसका हक देगा ? उसे भी मनुष्य समझेगा ? आखिर कब ? मैत्रेयी स्त्री के इन्हीं अधिकारों के लिए लड़ती हैं।

समानता, न्याय, आजादी, हक, अधिकार, अस्तित्व और आत्मनिर्भरता जैसे नए मूल्यों को गढ़ती यह आत्मकथा अपने वर्तमान संदर्भों के कारण आज भी प्रासंगिक है। मैत्रेयी की लड़ाई समाज से नहीं, बल्कि उन नियमों, उन मूल्यों से है, जो उसे चैन से जीने नहीं देते। तरह-तरह के फतवे जो उससे जीने का हक ही छीन लेते हैं। मैत्रेयी पुष्पा की यह आत्मकथा ऐसे ही फतवों का निषेध करती है।

l nHk

[1]मैत्रेयी पुष्पा – सुनो मालिक सुनो, भूमिका

[2] सुमन राजे – इतिहास में स्त्री, पृ. 111

[3] बहुवचन, जनवरी–मार्च 2010, पृ. 134

[4] वही, पृ. 140

[5] प्रभा खेतान – स्त्री उपेक्षिता, पृ. 345

[6] अनिल कुमार (संपा.) – कुसुम अंसल रचनावली, पृ. 55

[7] वाङ्.मय त्रैमासिक, फरवरी–जुलाई 2011, पृ. 294

[8] अनिल कुमार (संपा.) – कुसुम अंसल रचनावली, पृ. 53

[9] निर्मला पुतुल – अपने घर की तलाश में, पृ. 103

[10] कृष्णा अग्निहोत्री – और–और औरत, पृ. 27

[11] वही, पृ. 111

[12] वही, पृ. 93

[13] दीपक कुमार, देवेन्द्र चौबे (संपा.) – हाशिए का वृतांत, पृ. 179

[14] कौशल्या बैसंत्री – दोहरा अभिशाप, पृ. 106

[15] मन्नू भंडारी – एक कहानी यह भी, पृ. 7

[16] वही, पृ. 8

[17] वही, पृ. 218

[18] आलोचना, अक्टूबर – दिसम्बर 2009, पृ. 93

[19] चन्द्रकिरण सौनरेक्शा – पिंजरे की मैना, पृ. 302

[20] नया ज्ञानोदय, मई 2008, पृ. 61

[21] बहुवचन, जनवरी–मार्च 2010, पृ. 126

[22] मैत्रेयी पुष्पा – कस्तूरी कुण्डल बसै, पृ. 21

[23] वही, पृ. 43

[24] वही, पृ. 112

[25] वही, पृ. 55

[26] वही, पृ. 176

[27] वही, पृ. 251

[28] वही, पृ. 156

[29] साक्षात्कार, अगस्त 2003, पृ. 46

[30] विजय बहादुर सिंह – मैत्रेयी पुष्पा स्त्री होने की कथा, पृ. 267

[31] पहल, अंक–73, पृ. 256

[32] मैत्रेयी पुष्पा – गुड़िया भीतर गुड़िया, भूमिका

[33] कथाक्रम, सितम्बर 2009, पृ. 102

[34] मैत्रेयी पुष्पा – गुड़िया भीतर गुड़िया, पृ. 131

[35] हंस, सितम्बर 2005, पृ. 30

[36] हंस, नवम्बर 2005, पृ. 63

[37] वही, पृ. 63

[38] मैत्रेयी पुष्पा – गुड़िया भीतर गुड़िया, पृ. 338

प्रश्न : स्त्री विमर्श के संदर्भ में आत्मकथा की आवश्यकता को आप कैसे देखती हैं ?

उत्तर : आत्मकथा महज कथा-कहानी नहीं होती। यह एक व्यक्ति की ऐसी जीवन्त आख्यायिका होती है, जिससे अन्य व्यक्तियों की जिंदगी भी जुड़ी होती है। अपने रूप में जिंदा सच, जिसका कि हम विश्वास करते जाते हैं। कहानी, उपन्यास भले ही वास्तविक स्थितियों या पात्रों को गहराई के साथ रूपायत करें, मगर कहीं-न-कहीं पाठक के मन में उसकी कल्पनात्मक प्रस्तुति का भाव प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से बना रहता है।

स्त्री की आत्मकथा, स्त्री विमर्श के लिए ऐसा दस्तावेज होता है जिसकी कसौटी पर हम नारी जीवन के नागरिक रूप को कस सकते हैं, उसके मनुष्यगत अधिकारों का लेखा-जोखा अपने अनुपात के साथ निकलकर आता है और सामाजिक स्थितियों का पर्दाफाश होता है, क्योंकि अब तक ज्यादातर सच्चाइयों पर मौन का रेशमी आवरण चढ़ा रहा है।

प्रश्न : आपके उपन्यासों में आपकी अपनी बातें क्या अभिव्यक्त नहीं हो सकीं कि आपने आत्मकथा लिखने का निर्णय लिया ?

उत्तर : उपन्यास में भी लगभग वे ही बातें आती हैं, जो मनुष्य के जीवन में घटित होती हैं, लेकिन उन स्थितियों के संकट और संघर्ष कहीं न कहीं आदर्शवाद की ओर खींच लिए जाते हैं, क्योंकि उपन्यास से पाठक भी किसी सत्यम् शिवम् सुन्दरम् की उम्मीद करते हैं और लेखक अपनी इच्छानुसार इसमें जोड़-बाकी कर सकता है। आत्मकथा में ऐसा कुछ भी लेखक के हाथ में नहीं होता, जिसको बदलने का अधिकार उसे दिया जाता हो। आदर्श जिंदगी भी गजालत और नीचता के दलदल में धँसी दिखाई देती है। सत्पुरुष के जीवन में कितने ही कुकृत्य अपना दखल रखते हैं। यह नायक और नायिका की कहानी नहीं होती, कमजोरियों और साहस से बने मनुष्य की आपबीती होती है। निश्चित ही मेरी आत्मकथा, मेरे उपन्यासों से भिन्न है।

प्रश्न : चूँकि आत्मकथा में भी अन्ततः कथा ही है, इसलिए इसमें भी कथा का तत्त्व आ ही जाता है। मेरे पूछने का आशय यह है कि आपकी आत्मकथा के दोनों खण्डों में कितना प्रतिशत आत्म है और कितनी प्रतिशत कथा?

उत्तर : चेखव ने कहा है कि वे किसी भी चीज को विषय बनाकर कहानी लिख सकते हैं। दवात यानि, रौशनाई की शीशी पर कथा लिखना उनके लिए उतना ही आसान है, जितना किसी पात्र पर कहानी लिखना। आत्मकथा आपबीती होती है, कहने का ढंग उसे कथा में ढालता है। जिस तरह हर व्यक्ति कहानी या उपन्यास नहीं लिख सकता, उसी तरह हर कोई आत्मकथा हरगिज नहीं लिख सकता। जब हममें अपने आप को खोलने तथा अपनी खामियों को सार्वजनिक करने का जज्बा तक पैदा हो जाता है, तब हम अपने आप से तटस्थ हो जाते हैं और अपनी ही जिंदगी को एक दर्शक की तरह देखते हैं। पुनः जो हू-ब-हू तस्वीर उभरती है, उसी दृश्य को कलमबद्ध करते जाते हैं। अगर आत्म को पूरी तरह न उड़ेलना होता, तो क्या जरूरत थी आत्मकथा लिखने की ? आत्मकथा की तो पहली शर्त ही अपने आपको निष्कवच रखते हुए पाठकों के सामने जिंदगी की चीरफाड़ करनी है। हाँ, घटनाक्रम उस आपबीती को क्रमवार रखने के कारण कथा का आस्वाद पैदा कर देता है।

'कस्तूरी कुंडल बसै' के संदर्भ में मैंने जरूर स्वीकार किया है कि माँ के जीवन से जुड़ी घटनाएँ, उतार-चढ़ाव और उनका संघर्ष जो मेरे जन्म से पहले या मेरे समझने की उम्र से पहले के समय का है, उनका शत-प्रतिशत सत्यापन मैं नहीं कर सकती, क्योंकि वे सुनी हुई हैं और कई बार सुना हुआ गल्प में भी परिवर्तित हो जाता है।

प्रश्न : आपके उपन्यासों की नायिकाएँ आपसे कितनी मिलती-जुलती हैं?

उत्तर : उपन्यासों की नायिकाएँ लेखक के व्यक्तित्व से मेल खाए यह जरूरी तो नहीं। 'अल्मा कबूतरी' उपन्यास की 'अल्मा' अपराधी जनजाति की लड़की है, मैं खुद को उसमें आरोपित कैसे कर सकती हूँ और कहाँ तक ? 'चाक' की सारंग ने उस रूढ़ चलन को तोड़ दिया, जिसमें सब तरह से स्त्री को मुखापेक्षी बनाया जाता रहा है। मन्दा (इदन्नमम्) समाज के लिए

समर्पित है, अपना तो न घर न गृहस्थी, लोग उसे मुझ से नहीं, मेधा पाटेकर से मिलाकर देखते हैं।

हाँ, यह जरूर है कि एक विशफुल थिंकिंग होती है, आकांक्षा या सपना लेखक के भीतर आकार लेता है, जिसे वह अपनी कृति की नायिका या नायक के बहाने स्थापित करता है। वह भी स्थितियों, समय और मान्यताओं में बदलाव की सख्त जरूरत को मद्देनजर रखते हुए, क्योंकि साहित्य की अनिवार्य शर्त है सकारात्मक परिवर्तन का आह्वान।

प्रश्न : आपको आत्मकथा लिखने की प्रेरणा कहाँ से मिली ?

उत्तर : अपना जीवन ही प्रेरित करता है, अपनी निजी बातें लिखने के लिए। आत्मकथा लिखने से पहले हम पीछे मुड़कर देखते हैं, कैसी थी यह जिंदगी ? कैसा रहा जीवन का सफर ? कहाँ से चले थे, कहाँ पहुँचे ? क्या कुछ ऐसा है, जिसको कागज पर उतार दिया जाए तो अन्य लोगों के लिए रास्ते बनाने का जरिया मिले। न सही हमारी अपनी तरह से, उनकी अपनी तरह के कुछ उपाय हाथ आ जाए। अगर हमारी जीवन कथा किसी को आगे बढ़ने के लिए प्रेरित नहीं करती, तो व्यर्थ है, फिर आत्मकथा लिखने का उत्साह या तथाकथित प्रेरणा।

मुझे लगा था मेरे जैसी हजारों–लाखों लड़कियाँ गाँवों से स्कूलों तक के बीहड़ रास्तों का पार नहीं कर पातीं। वे पितृसत्तात्मक समाज के कठघरों में रहती हुई सुरक्षा के बोध की मारी अनपढ़ या अर्द्धशिक्षित रह जाती हैं। वे सपने देखना स्थगित ही नहीं, खत्म कर दी होती हैं। वे अपनी जिंदगी को दी गयी जिंदगी समझती हुई स्त्री जीवन के भ्रम में समय काटती हैं। मुझे लगा था कठिनाइयाँ तभी तक रास्ता रोकती हैं, जब तक कि उनके साथ मुठभेड़ न की जाए। मुझे यह भी लगा था कि हम जैसी औरतें नंगे पांव चलकर उस केन्द्रीयता तक आ सकती हैं, जो मुट्ठी भर लोगों के कब्जे में चली आ रही है।

प्रश्न : हिंदी आत्मकथाओं में आपकी प्रिय आत्मकथाएँ कौन– कौन सी हैं ?

उत्तर : मेरी प्रिय आत्मकथाएँ हैं – बेचनशर्मा उग्र की 'अपनी खबर' शिवरानी देवी की 'प्रेमचंद घर में'।

प्रश्न : पूरे हिंदी उपन्यासों में कोई ऐसी नायिका बताएँ, जो आपको याद रह गयी हो ?

उत्तर : हिंदी उपन्यासों में 'मैला आँचल' की 'लछमी दासिन' और 'मुझे चाँद चाहिए' की 'वर्षा वशिष्ठ'।

प्रश्न : कस्तूरी के जीवन-संघर्ष से आप अपने संघर्ष को कहाँ तक जुड़ा पाती है ?

उत्तर : कस्तूरी का जीवन संघर्ष मेरी जिंदगी में नहीं था। मेरा जीवन उनसे एक दम उलट था, क्योंकि जिन सुरक्षाओं ने उनको छला उन्हीं असुरक्षाओं ने मुझे मुठभेड़ करना सिखा दिया। जहाँ कस्तूरी की कुँआरी उम्र को घर के लोग ही इस्तेमाल कर रहे थे, मर्यादा की आड़ में, वहीं मेरे लिए आमने-सामने की लड़ाइयाँ पेश आईं और उन लड़ाइयों में माँ कहीं शामिल नहीं थी। न अच्छे में, न बुरे में। शादी-ब्याह का भी फैसला जहाँ कस्तूरी के लिए दूसरे लोग ले रहे थे, वहीं मैं खुद निर्णय कर रही थी। हाँ, यहाँ अपनी सारी असहमति के बाद भी माँ सकारात्मक बदलाव के साथ सामने थी, मसलन जन्मपत्री की जगह मेरी मार्क्सशीट का उपयोग करना, दहेज के लिए कतई तैयार न होना। ऐसी बातों में हमारे मकसद एक थे। हाँ, मकसद तो और भी एक जैसे ही थे, मगर संघर्ष की राहें जुदा थीं। सरकारी मुलाजिम कस्तूरी और गृहणी से लेखिका बनने की जद्दोजहद में प्रवृत्त मैत्रेयी।

प्रश्न : आपके संघर्ष का केन्द्रबिंदु प्रेम या अेकलापन है ? इस देश में कितनी प्रतिशत स्त्रियों के जीवन का संघर्ष प्रेम या अकेलापन से जुड़ा हुआ है ?

उत्तर : प्रेम और अकेलापन, ये दोनों शब्द जुड़वा हैं। अकेलापन महसूस न हो, तो मनुष्य प्रेम की तड़प क्यों महसूस करे ? अकेलापन परिवारविहीन होना नहीं है। एकाकी तो व्यक्ति तब भी होता है, जब उसके स्वभाव, सपनों और रूचियों के साथ चलनेवाला उसे नहीं मिलता। तभी न परिवार हम चुनते नहीं हैं, वह हमें मिलता है। मित्र हम चुनते हैं, जिसके इर्द-गिर्द हमारा प्रेम रहता है।

मैं यह स्वीकार करती हूँ कि प्रेम में मुझे अपनी जिंदगी से ज्यादा रूचि रही है और मैंने उसमें हर हालत में विश्वास रोपा है। मेरे अकेलेपन ने कभी यह छानबीन नहीं की, कि जिनको मैंने प्रेम के पात्र के रूप में देखा, वे मुझे कितना प्यार करते रहे हैं, मैं तो अपनी ही मोहब्बत से लबरेज रही और मौका मिलते ही उसे उलीचने से बाज नहीं आई, क्योंकि यही मेरा सबसे बड़ा खजाना रहा है।

मेरे खयाल में यह खजाना हर स्त्री के पास होता है, तभी तो इस पर जबरदस्त पहरे हैं और स्त्रियों को अकेला नहीं छोड़ा जाता, उसे पिता, पति और पुत्र के द्वारा दी गयी सुरक्षा के घेरों में कैद रखा जाता है, क्योंकि स्वतंत्र स्त्री प्रेम करने लगती है, ऐसी मान्यता है और यह डरावनी मान्यता औरत को प्रेम के नाम पर गुलामी में घसीटने लगती है, जिसमें वह कभी अकेली नहीं, पहरेदारों के साए में रहती है। वरन् एकान्त में ही तो कोई अपने प्यारे दुलारों की यादों में खोने का समय पाता है।

प्रश्न : इस देश की बहुसंख्यक स्त्रियों की समस्याओं को देखते हुए आप अपने संघर्ष को कितना सार्थक मानती हैं ?

उत्तर : समस्याएँ सारी औरतों के लिए लगभग वही हैं, बस उनके रूप अलग-अलग हैं। भेदभावों से भरा बचपन, शादी ब्याह के नाम पर कुरबानी, विवाह संस्था को चलाने की पीड़ादायी जिम्मेदारी, प्रजनन के तहत बेटे को जन्म देने की कही और अनकही अनिवार्यता। सबसे बड़ी त्रासदी पिता की संपत्ति में कानूनी हक की स्वीकृति के बावजूद हक न मिलना। ससुराल में पति के रहने तक संपत्ति की हिस्सेदारी से खारिजनाम। सांस्कृतिक रूप से कसावट वाली परंपराओं का निर्वहन ।

अपनी समझ में मैंने इन सारी रूढ़ियों को तोड़ने या पुरानी परंपराओं को बदलने का जो प्रयास किया है, उस पर समाज के ठेकेदारों की कटीली निगाह पड़ी है और मैं आश्वस्त हुई हूँ कि मेरा निशाना ठीक बैठा है। हमने वह भय छोड़ा है, जिसने हमें गुलामी के किलों में कैद कर रखा था। हमने पुरुषसत्ता को चुनौती दी है ताकि वे अपने विद्वानों से कहें। हमारे बदलते हुए साहित्यिक तेवरों के लिए अपने औजारों पर धार धरें

और हमारी धारणाओं, निष्कर्षों और व्याख्याओं को कहें। हमने पाया है कि वे मजबूर हैं। आज की साहित्यिक और सामाजिक दृष्टि से नई स्त्री के लिए अनर्गल भाषा में अपने मंतव्य देने के लिए। स्त्रियों की यह मति और गति चौंकाने वाली है, इक्कीसवीं सदी के समाज को।

प्रश्न : हिंदी में स्त्री विमर्श बहुत हद तक प्रतिक्रियावादी रहा है, इस परिप्रेक्ष्य में आप अपनी आत्मकथा को कैसे देखती हैं ?

उत्तर : प्रतिक्रिया देना हमारा मुख्य उद्देश्य नहीं। हम तो अपनी जिंदगी पर लदे फैसलों को बदलना चाहते हैं, क्योंकि उन फैसलों की कसावट हमें हिलने तक नहीं देती, जब कि हम अपने प्रस्थान बिंदु तय कर चुके हैं और अपने रास्ते पर हैं। कहना सिर्फ यही चाहते हैं कि 'स्त्री विमर्श' इस शब्द को मजाक में मत उड़ाइए, क्योंकि इसके तहत हम उस आजादी को प्राप्त करने के लिए निकले हैं, जो हमें कायदे से सन् 1947 में मिल जानी चाहिए थी। तब हमने अंग्रेजों के खिलाफ तो स्वर ऊँचा किया, परन्तु अपनों के सामने गर्दनें झुका लीं और हम गुलाम ही रह गए, वरन् 65 साल बाद भी उस संघर्ष का क्या मतलब था, जिसमें सिर से कफन बाँधना पड़े। आत्मकथा में भी सजा का भय त्यागकर ऐसे कितने ही प्रसंग दर्ज हो गए, जिन पर लोगों ने लानत बरसाई और किताब को खारिज किया।

प्रश्न : क्या कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रसंग आपको याद आते हैं, जिनका उल्लेख आत्मकथा में न हो सका ?

उत्तर : आत्मकथा लिखते समय प्रसंगवश जो आता जाता है, वह दर्ज होता है। यों तो जिंदगी अनगिनत हलचलों और अनुभवों से भरी होती है, किताब के लिए थोथा उड़ाने और छानने के लिए विवेक के सूप–छलनी की जरूरत होती है। नहीं तो लेखक को अपना सब कुछ बहुत प्यारा होता है। मैं समझती हूँ, जितना आ गया, वह अपने आप में काफी होगा।

प्रश्न : यूरोप में स्त्री मुक्ति का जो आंदोलन चला, उससे हिंदी का स्त्री-विमर्श किस हद तक प्रभावित है ?

उत्तर : 'स्त्री मुक्ति' की परिभाषा बंधी हुई नहीं है। वह अपने-अपने माहौल में लागू उन नियमों कानूनों के विरुद्ध होती है, जो वहाँ रहती स्त्री के मनुष्य जीवन पर कुठाराघात करते हैं। योरोप में हदबंदियाँ, कठघरे, अभाव और भेदभाव भारत के जैसे ही नहीं हो सकते, तो संघर्ष का रूप और स्त्रियों की माँग भी अपनी तरह की होगी। जहाँ तक मुक्ति का प्रश्न है, वह तो सभी बन्दिनियों को चाहिए। गुलामी का अहसास जिस दिन हो जाता है, मुक्ति के लिए जंग भी तभी से छिड़ जाती है, उसमें प्रभावित और अप्रभावित रहने का सवाल नहीं होता।

प्रश्न : हिंदी में जो स्त्री विमर्श चल रहा है, उसको बहुत सारे आलोचक फैशनबल आंदोलन मानते हैं। आप इससे कहां तक सहमत हैं ?

उत्तर : स्त्री जब अपने विषय में सोचने लगी, वह अपनी जुबान खोलने लगी। वह अपनी कलम से अपने मन की कहानी लिखने लगी। अपनी रूचियाँ अपने संकल्प बताने लगी, वह उस व्यवस्था में हस्तक्षेप करने लगी, जिसको पितृसत्ता ने बड़ी मेहनत से मतजबूर करते हुए अब तक रखा है। मर्यादा, नैतिकता और स्त्री आदर्श की परिभाषाएँ बदलने वाली स्त्री, पुरुष व्यवस्था में किसको रास आएगी। दिल को बहलाने के लिए यह ख्याल अच्छा है कि 'स्त्री विमर्श' फैशनेबिल आंदोलन है। लेकिन उनका दिया यह नारा भी तो आज की औरत नहीं सुनना चाहती।

प्रश्न : स्त्री-विमर्श की किन-किन पुस्तकों से आप प्रभावित हैं ?

उत्तर : 'स्त्री-विमर्श' इस विषय पर मैंने कुछ पुस्तकें पढ़ी हैं। जैसे – सिमॉन द बउआर की' 'द सेकेंड सेक्स' और जर्मेन ग्रियर की किताब। देशी-विदेशी पुस्तकें देखने पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँची हूँ कि अपने अनुभवों से जो विचार निकलते हैं, वे किसी किताब को पढ़ने के मोहताज नहीं। वे नए विचार होते हैं, नए रास्ते सुझाते हैं।

प्रश्न : इस देश में स्त्री का भविष्य आप कैसा देखती हैं? कहने का आशय यह है कि स्त्री को उसके अधिकार कब तक हासिल होंगे ?

उत्तर : हजारों साल की गुलामी, सदियों-सदियों का दासत्व क्या चंद वर्षों में खत्म हो जाएगा ? तभी तो स्त्री ने अपनी बात कहना शुरू किया है, अभी

तो कुछ ही महिलाओं ने घर की चौखट लांघने के खतरे उठाईं हैं, अभी तो थोड़ी सी औरतें उन क्षेत्रों में प्रवेश कर पायी हैं, जहाँ उनके लिए अनकहा मान्यता प्राप्त निषेध लिखा था। अभी तो जहाँ स्त्री को किसी पद पदवी का धारक बनाया जाता है, वहाँ अभिनय ही प्रमुख है।

वक्त लगेगा, किसी भी मुकम्मल और पाएदार चीज के बनने में समय लगता है, क्योंकि धोखेबाजियाँ, चालें और छद्म अपनी-अपनी विसात बिछाए बैठे हैं, घर से निकली औरत को हर समय चौकन्ना रहना है, क्योंकि यह बाहर का रास्ता है और वह अकेली है।

प्रश्न : और अन्त में, इस देश की स्त्रियों को आप क्या संदेश देना चाहती हैं ?

उत्तर : मेरी किताबें किसलिए हैं? उनमें संघर्ष और संदेश है या नहीं, ज्ञान की लालसा रखने वाली स्त्रियाँ खुद देख लेंगी, ऐसे ही जैसे, जिस किसी शहर में वे मुझसे मिलने जाती हैं और मानती हैं कि जिन्दगी में आदमी कभी अपनी विकास यात्रा के लिए 'लेट' नहीं होता, वह जब जागता है, तभी सबेरा है। वह जब चल देता है, आगे मंजिल जरूर है। अतः हमें अपने मकसद किसी भी हालत में मुल्तबी नहीं करने हैं। स्थगित होना, जिंदगी रूक जाने का नाम है।

# mi l gk j

'आत्मकथा' केवल अपनी कथा नहीं होती बल्कि अपने परिवेश से जुड़े तमाम लोगों को वह अपने साथ लेकर चलती है। आत्मकथाकार के लिए अनिवार्य होता है – 'अपने अनुभवों की सच्ची अभिव्यक्ति'। आत्मकथा के माध्यम से लेखक संबंध सापेक्ष समाज में अपनी हकीकतों को सामने लाने का साहस करता है। मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा सदियों से चली आ रही स्त्री आदर्शों की कसौटी को ध्वस्त कर देती है। समाज और साथ ही साहित्य में 'मौन ही सर्वोत्तम उपाय' कहकर व्यक्तिगत जीवन को छिपाने की बात की जाती है। संबंधों के नाम पर निजी प्रसंगों की गोपनीयता को उचित माना जाता है। कहीं संबंधों में दरार का भय, तो कहीं बदनामी और बहिष्कार जैसे दंडों का कोप! इसे सत्य की त्रासदी कहें या विडम्बना ? जो समाज के डर से भीतर छिपा रहता है। मन के तहखानों में छिपी सच्चाइयाँ ही स्त्री के शोषण का कारण बनती हैं। मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा साहित्य और समाज में एक नए विमर्श की बात करती है। अपनी ही माँ को सारी असलियतों के साथ उतारना और अपने ही पति को कठघरे में खड़ा करने का साहस करना समाज तो क्या साहित्य के लिए भी नया है। यह सच है कि कुछ नया कहना, अभिव्यक्ति के खतरों से कम नहीं लेकिन समाज के मिजाज की परवाह न कर लेखिका अनगिनत रूढ़ियों से मुक्त होकर एक नया आदर्श खड़ा करती है। जिद, जुनून, संकल्प, साहस की इबारत समाज के सामने एक चुनौती बनकर आती है। अभिव्यक्ति के खतरे उठाकर ही परिवर्तनकामी रचना का जन्म होता है।

'मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा कलाकृति से बढ़कर जीवन की घुटन है। मैत्रेयी जिंदगी के धूल–धक्कड़ से लड़ते हुए गिरकर भी, फिर उठने का हौसला रखती है। वह आज की पीढ़ी को एक नया खुला आकाश देना चाहती है। आत्मकथा का पहला भाग 'कस्तूरी कुण्डल बसै' स्त्री के हक में कस्तूरी और मैत्रेयी का अविश्रांत युद्ध है। दूसरा भाग 'गुड़िया भीतर गुड़िया' सभ्यता में निहित असभ्यताओं का एक ऐसा दर्दनाक दस्तावेज है, जिसके पन्ने सदाचार के खून से लाल हैं, लेकिन जिसकी लाली एक नए सूर्योदय की अरुणिमा की ओर इशारा करती है'।

मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा संघर्षों की एक अनुगूँज रचती है। मैत्रेयी का विरोध पुरुष  जाति से नहीं बल्कि उस सामंती मनोवृत्ति से है, जो नारी को दासी का दर्जा देती है। मैत्रेयी के अनुसार नारी मुक्ति का अर्थ – पुरुष से मुक्ति में नहीं बल्कि वस्तु

रूप से मुक्ति में है। मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा हमारे सामने एक सामाजिक विमर्श खड़ा करती है। ऐसा विमर्श, जो अधिकार, हक, समानता और स्वायत्तता की बात करता है। मैत्रेयी पुष्पा जाति, धर्म के बंधनों से परे मानवीय रिश्तों की बात करती हैं। मैत्रेयी वर्जनाओं, कुंठाओं और निषेध वाले मां के ढर्रे पर चलने से इंकार कर देती है। यह आत्मकथा मैत्रेयी के जीवन–संघर्षों के साथ ही लेखकीय संघर्षों को भी व्यक्त करती है।

अपनी समस्त इच्छाओं, आकांक्षाओं के साथ मैत्रेयी एक ऐसी लकीर खींचना चाहती हैं, जो अपनी रोशनी से समय और समाज को एक नई दिशा दे सके। पराजय, हताशा और शोषण के बावजूद स्वप्न और सृजन की अनगिनत इच्छाएं उसके वजूद को बनाये रखती हैं।

अपने जन्मसिद्ध अधिकारों को पाने के लिए वह दुनिया से मुठभेड़ करती हैं। समाज सुधार का संकल्प, स्त्री की छवि को बदलने की कोशिश और चली आ रही पंरपरा में बदलाव के दृष्टिकोण, ये सभी बिंदु मैत्रेयी को महिला आत्मकथाकारों में विशिष्ट बनाते हैं।

आत्मकथा के माध्यम से मैत्रेयी पुष्पा मानवतावादी समाज का निर्माण करती हैं। कबीर को आदर्श मानकर मैत्रेयी 'कागद की लेखी' पर नहीं, 'आंखिन देखी' पर विश्वास करती हैं। उनकी यह आत्मकथा इसी सच की अभिव्यक्ति है।

मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा परंपरा के साथ ही नवीनता का भी आग्रह करती है। लेखिका परंपराओं को तोड़ना नहीं, बदलना चाहती है। वह बदलाव की आकांक्षा लेकर नवीन निर्माण चाहती है। यहाँ बदलाव का अर्थ है – नए रूप में परंपरा को रखना, उसे मनुष्य विरोधी होने से बदलकर मनुष्य के लिए सार्थक और सकारात्मक बनाना। लेखिका का मानना है कि समय के साथ परंपराओं में बदलाव आना आवश्यक ही नहीं, वरन् महत्त्वपूर्ण भी है। समय वही नहीं रहता, जो प्राचीन या मध्ययुग में था। समय वह भी नहीं रहेगा, जिसे हम आधुनिक समाज कहते हैं। परंपरा की नियमावली अगर परिवर्तित नहीं होगी, तो रूढ़ हो जाएगी। रूढ़ियाँ मनुष्य जीवन के लिए कभी भी सकारात्मक और भविष्योन्मुखी नहीं होतीं। मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा इस दृष्टि से एक नयी इबारत गढ़ने की सार्थक कोशिश के रूप में हमारे सामने आती है। शिक्षा से लेकर रीति-रिवाजों के नवीनीकरण तक का प्रबल आग्रह हमें आत्मकथा में देखने को मिलता है।

मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा समय और समाज की जीवन्त और वास्तविक सच्चाई को हमारे सामने उजागर करती है। बात चाहे मैत्रेयी की हो, या फिर माँ कस्तूरी की। दोनों ही कदम-कदम पर उत्पीड़ित और अपमानित होने का दंश झेलती हैं। धर्म, परंपरा, कर्तव्य और मर्यादा के नाम पर स्त्री सदियों से शोषित होती चली आ रही है। आत्मकथा ऐसे अनेक प्रसंगों से भरी हुई है, जहाँ स्त्री को शोषण के लिए मजबूर किया जाता है। उसे चली आ रही लीक के साँचे में फिट होने के लिए बाध्य किया जाता है। कस्तूरी और मैत्रेयी दोनों ही इस बने-बनाए चौखटे से पृथक अपना स्थान स्वयं निर्धारित करती हैं।

मैत्रेयी समाज में समानता चाहती है, जहाँ किसी प्रकार का भेदभाव न हो। आज भी दलितों को अस्पृश्य माना जाता है। महानगरों में फिर भी यह भेदभाव काफी हद तक कम हुआ है, लेकिन गाँव और कस्बों में दलितों के साथ पशुवत व्यवहार आज भी किया जाता है। मैत्रेयी समाज से इसी व्यवहार के बदलाव की उम्मीद लेकर एक ऐसे समाज की निर्मिति चाहती हैं, जहाँ वर्णगत, जातिगत असमानता न होकर मनुष्य मात्र की समानता स्थापित हो।

मैत्रेयी पुष्पा की यह आत्मकथा ग्रामीण भारत की समस्याओं, शासन-व्यवस्था और समाज-व्यवस्था के बाह्याडम्बरों को अपने संपूर्ण अंतर्विरोधों के साथ चित्रित करती है। व्यवस्था के दमन को झेलने के बावजूद यहाँ स्त्री अपने सपने को नहीं त्यागती। जीवन से लड़ते हुए वह जीवन जीती है। 'अब घर का कारागार टूट रहा है' का उद्घोष न केवल एक स्त्री के बंधनहीन जीवन जीने का सूचक है बल्कि एक नवीन और उन्नत समाज के निर्माण का परिचायक भी है। आत्मकथा की सार्थकता इस बात में है कि लेखिका एक स्त्री के माध्यम से सम्पूर्ण समाज के विनिर्मित होने की आकांक्षा हमारे सामने रखती है। कहीं कोई ध्वंस और विनाश नहीं फिर भी समाज बदल रहा है, नियम उसके अनुकूल हो रहे हैं, यही तो परिवर्तन है। बदलाव की यही उम्मीद, आत्मकथा को वर्तमान संदर्भों से जोड़ देती है। अब स्त्री 'दासी' या 'देवी' नहीं है उसका स्वतंत्र व्यक्तित्व है। आज स्त्री दया, लज्जा, ममता, करुणा आदि गुणों का प्रतीक मात्र न होकर अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखती है। वह अपने -गौरव को पहचानने लगी है कि वह मात्र भोग्या नहीं है। आधुनिक समाज में स्त्री की जो छवि उभरकर सामने आयी है, वह प्राचीन और मध्यकालीन संस्कारों को पूरी तरह से तोड़ती है। अब वह धर्म, परंपरा के चक्रव्यूह में फँसने की बजाए शोषण के इन औजारों पर कठोर प्रहार कर रही है। स्त्री की इस लड़ाई में पुरुष भी यह महसूस करने लगे हैं कि स्त्री को समानता का हक मिलना

चाहिए। 'गुड़िया भीतर गुड़िया' में अन्त तक आते -आते मैत्रेयी के पति, उसके सहयोगी बनकर सामने आते हैं। बदलाव की जो आकांक्षा मैत्रेयी ने की थी, वह धीरे-धीरे सच होने लगती है। मैत्रेयी के यहाँ स्त्री एक सशक्त इकाई बनकर सामने आती है – व्यक्ति, परिवार और राष्ट्र की।

मैत्रेयी पुष्पा की यह आत्मकथा इक्कीसवीं शताब्दी की दहलीज पर खड़ी, स्त्री मुक्ति के कगार को छूने को लालायित एक ऐसी स्त्री की संघर्ष–गाथा है, जो छल-पोषित पंरपरा से मुक्ति चाहती है। इसके लिए वह विद्रोह भी करती है। धीरे-धीरे उसका विद्रोह साकार रूप लेने लगता है और विद्रोह के उस भंवर में रूढ़ियों, परंपराओं, लांछन और लोकाचार के कुंडल टूटने लगते हैं। न केवल 'आत्मकथा' का शीर्षक बल्कि 'अध्यायों' के शीर्षक भी मैत्रेयी कबीर से उधार लेती हैं। यहाँ ये अध्यात्मिक प्रतीक अपने रहस्यवादी कुंडलों से मुक्त होकर एक नया अर्थ देते हैं। मैत्रेयी इस समाज को बदलना चाहती हैं। इस बदलाव के लिए वह लुकाठी लेकर समाज और साहित्य के बाजार में खड़ी हो जाती हैं कि देखें, किस -किसमें उनके साथ चलने का साहस है ? अंत तक आते-आते मैत्रेयी अपनी सारे कुंडलों को त्यागकर एक नया संदेश देती हैं – कि स्त्री की कस्तूरी अब किसी कुंडल में कैद न होकर उसके स्वातंत्र्य, साहस, सामर्थ्य और स्वाभिमान में है।

मैत्रेयी पुष्पा अपनी आत्मकथा में रिश्तों की सच्चाई को बिना किसी भय के समाज के सामने लाने का साहस करती हैं। वह बनावट और मिलावट से परे आपबीती वास्तविकता की मांग करती हैं। अपनी मां तक को वह कठघरे में खड़ी कर देती हैं। यह आत्मकथा मां और बेटी की चली आ रही छवि को तोड़ती है। आत्मकथा में अभिव्यक्त होता है – 'मां' से खटकता हुआ बेटी का रिश्ता। अन्तरात्मा की पुकार टूटन–फूटन की परवाह नहीं करती। रहीम की उक्ति – 'खैर खून खाँसी खुसी, बैर प्रीति मदपान। रहिमन दाबे न दबै, चाहे दाबे सकल जहान' को आदर्श मानकर लेखिका अपने प्रेम–प्रसंगों को उजागर करने में परहेज नहीं करती है। जिनसे लगाव और जुड़ाव हुआ, जिनसे भावनाएं एकाकार हुईं, वे सभी आत्मकथा में आते गए। मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा पाखंडों को तोड़कर एक नयी संस्कृति का निर्माण करती है।

मैत्रेयी स्त्री की आजादी के लिए लड़ती है। घर के सुरक्षित दायरे को कौन सी औरत कारागार कहती है ? ऐसा वही औरत कह सकती है, जो चौखट को लांघने का साहस करती है। साहित्य में चली आ रही 'मुग्धा', 'मध्या' जैसी नायिकाओं के बरक्स

मैत्रेयी एक ठेठ ग्रामीण स्त्री के रूप में हमारे सामने आती है। स्त्री जीवन के विविध पक्षों को अभिव्यक्त करने की दृष्टि से मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा–'कस्तूरी कुण्डल बसै' और 'गुड़िया भीतर गुड़िया' एक अलग मुकाम पर खड़ी हैं।

# vk/kkj xzUFk


मैत्रेयी पुष्पा – कस्तूरी कुण्डल बसै, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009

मैत्रेयी पुष्पा – गुड़िया भीतर गुड़िया, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009

# l gk;d xaFk


अनामिका – कविता में औरत, इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद, 2007

अनामिका – कवि ने कहा, किताबघर प्रकाशन, नयी दिलली, 2009

अनामिका – कहती हैं औरतें, इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद, 2007

अनिल कुमार (संपा.) – कुसुम अंसल रचनावली, खण्ड –6, नयन प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008

अरविंद जैन – औरत :अस्तित्व और अस्मिता, सारांश प्रकाशन, दिल्ली, 2000

अरविंद जैन – औरत होने की सजा, राजकमल प्रकाशन पेपरबैक्स, नयी दिल्ली, 2006

आशारानी ब्होरा – स्त्री सरोकार, आर्य प्रकाशन मंडल, दिल्ली, 2006

ओमप्रकाश वाल्मीकि – जूठन, राधाकृष्ण पेपरबैक्स, नयी दिल्ली, 2008

उमा चक्रवर्ती – जाति समाज में पितृसत्ता, ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, 2011

कमलेश सिंह – हिंदी आत्मकथा : स्वरूप एवं साहित्य, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, 1989

किरण पोपकर – मैत्रेयी पुष्पा का कथा साहित्य, गौड़ पब्लिशर्स एँड डिस्ट्रब्यूटर्स, दिल्ली, 2011

कौशल्या बैसंत्री – दोहरा अभिशाप, परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली, 2009

कृष्णा अग्निहोत्री – और–और औरत, सामयिक बुक्स, नई दिल्ली, 2010

कृष्णा अग्निहोत्री – लगता नहीं है दिल मेरा, सामयिक बुक्स, नई दिल्ली, 2010

कात्यायनी – प्रेम, परंपरा और विद्रोह, परिकल्पना प्रकाशन, लखनऊ, 2000

कुमुद शर्मा – आधी दुनिया का सच, सामयिक प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2011

गोपा जोशी – भारत में स्त्री असमानता, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 2006

चन्द्रकिरण सोनरैक्शा – पिंजरे की मैना, पूर्वोदय प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2008

चम्पा श्रीवास्तव – हिंदी का आत्मकथात्मक साहित्य, साहित्य वाणी, इलाहाबाद, 2000

जवाहरलाल नेहरू – मेरी कहानी, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007

जर्मेन ग्रीयर – बधिया स्त्री, राजकमल पेपरबैक्स, नयी दिल्ली, 2008

तुलसी राम – मुर्दहिया, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010

दया पवार – अछूत, राधाकृष्ण पेपरबैक्स, नई दिल्ली, 2006

दीपक कुमार, देवेन्द्र चौबे (संपा.) – हाशिए का वृतांत, आधार प्रकाशन, पंचकूला, 2011

तसलीमा नसरीन – औरत का कोई देश नहीं, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009

नगेन्द्र – हिंदी साहित्य का इतिहास, मयूर पेपरबैक्स, 2007

नन्ददुलारे वाजपेयी – हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2007

नासिरा शर्मा – औरत के लिए औरत, सामयिक प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2010

निर्मला पुतुल – अपने घर की तलाश में, रमणिका फाउंडेशन, दिल्ली, 2004

पंकज चतुर्वेदी – आत्मकथा की संस्कृति, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003

प्रभा खेतान (अनु.) – स्त्री : उपेक्षिता, हिंद पॉकेट बुक्स, नयी दिल्ली, 2008

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' – अपनी खबर, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, 2010

बच्चन सिंह – हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008

बैजनाथ सिंहल – हिंदी विधाएँ : स्वरूपात्मक अध्ययन, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, 1988

बृंदा कारात – भारतीय नारी : संघर्ष और मुक्ति, ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, दिल्ली, 2008

बृंदा कारात – जीना है तो लड़ना होगा, सामयिक प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2008

महात्मा गाँधी – सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, 1957

मन्नू भंडारी – एक कहानी यह भी, राधाकृष्ण पेपरबैक्स, 2008

ममता कालिया – खाँटी घरेलू औरत, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2008

ममता कालिया – कितने प्रश्न करूँ, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2008

ममता जैतली, श्री प्रकाश शर्मा – आधी आबादी का संघर्ष, राजकमल पेपरबैक्स, नयी दिल्ली, 2011

मैत्रेयी पुष्पा – चर्चा हमारा, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011

मैत्रेयी पुष्पा – खुली खिड़कियाँ, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009

मैत्रेयी पुष्पा – सुनो मालिक सुनो, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2006

मृदुला सिन्हा – मात्र देह नहीं है औरत, सामयिक प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2009

मृदुला सिन्हा – बिटिया है विशेष, सामयिक प्रकाशन, 2011

मृणाल पाण्डे – स्त्री : देह की राजनीति से देश की राजनीति तक राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2011

मृणाल पाण्डे – परिधि पर स्त्री, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2011

मोहनदास नैमिशराय – अपने–अपने पिंजरे, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006

यशपाल – सिंहावलोकन, विप्लव कार्यालय, लखनऊ, 1966

युगांक धीर (अनुवादक) – रूसो की आत्मकथा, भाग 1 और 2, आत्मस्वीकृतियाँ, ज्याँ–जाल रूसो, संवाद प्रकाशन, मेरठ, 2004

रमणिका गुप्ता – स्त्री मुक्ति : संघर्ष और इतिहास, सामयिक प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2012

रमणिका गुप्ता – स्त्री विमर्श : कलम और कुदाल के बहाने, शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली, 2008

रमाबाई – हिंदू स्त्री का जीवन, संवाद प्रकाशन, मेरठ, 2006

रंजीत वर्मा – बलात्कार और कानून, राधाकृष्ण पेपरबैक्स, नई दिल्ली, 2007

रंजना जायसवाल – स्त्री और सेंसेक्स, सामयिक प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2010

राजकिशोर – स्त्री–पुरुष : कुछ पुनर्विचार, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2006

राजकिशोर – स्त्रीत्व का उत्सव, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2006

राजेन्द्र यादव – मुड़–मुड़ के देखता हूँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006

राजेन्द्र यादव – आदमी की निगाह में औरत, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, 2007

राजेन्द्र प्रसाद – आत्मकथा, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, 2007

राजेन्द्र यादव – जवाब दो विक्रमादित्य, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2009

राजेन्द्र यादव (संपा.) – देहरि भई विदेस, किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2008

रवीन्द्रनाथ टैगोर – मेरी आत्मकथा, देवनागर प्रकाशन, जयपुर

रामचन्द्र तिवारी – हिंदी का गद्य साहित्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2007

रामस्वरूप चतुर्वेदी – हिंदी गद्य : विन्यास और विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2006

रामस्वरूप चतुर्वेदी – हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008,

राधाकुमार – स्त्री संघर्ष का इतिहास, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2009

विजय बहादुर सिंह (संपा.)– मैत्रेयी पुष्पा स्त्री होने की कथा, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011

विश्व बंधु शास्त्री विद्यांकार– हिंदी का आत्मकथा साहित्य, राधाप्रकाशन, दिल्ली, 1984

सरला माहेश्वरी – नारी प्रश्न, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2007

सुमन राजे – इतिहास में स्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, 2012

सुशीला टाकभौरे – शिकंजे का दर्द, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011

सुधा अरोड़ा – आम औरत जिंदा सवाल, सामयिक प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2009

सुनीता गुप्ता – स्त्री चेतना के प्रस्थान बिंदु, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, 2010

सीमा दीक्षित – स्त्री अस्मिता : शय्या से सर्वोच्च अदालत तक, सामयिक बुक्स, नई दिल्ली, 2011

सुभाष चन्द्र – दलित आत्मकथाएँ : अनुभव से चिंतन, इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद, 2006

सूरलपाल चौहान – तिरस्कृत, अनुभव प्रकाशन, गाजियाबाद, 2005

शरणकुमार लिंबाले – अक्करमाशी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009

शशिकला त्रिपाठी – उत्तरशती के उपन्यासों में स्त्री, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2006

शांति खन्ना – आधुनिक हिंदी का जीवनीपरक साहित्य, सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली, 1973

हरिवंशराय बच्चन – क्या भूलूँ क्या याद करूँ, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 2007

हरिवंशराय बच्चन – नीड़ का निर्माण फिर, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली, 2008

हरिवंशराय बच्चन – बसेरे से दूर, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 2008

हरिवंशराय बच्चन – दशद्वार से सोपान तक, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 2008

क्षमा शर्मा – स्त्रीत्ववादी विमर्श : समाज और साहित्य, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2012

lgk;d i=&if=dk,

हिन्दुस्तान, 13 जुलाई 2008

जनसत्ता दिल्ली, 16 जनवरी 2011

आलोचना (त्रैमासिक) – प्रधान संपादक – नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

आलेख संवाद – मई 2008

उत्तर प्रदेश – संपादक–विजयराय, जनवरी 2003, लखनऊ

कथाक्रम – संपादक – शैलेन्द्र सागर, अक्टूबर–दिसम्बर 2002

जुलाई–सितम्बर, 2009

कथादेश – संपादक – हरिनारायण, जनवरी 2009, नई दिल्ली

तद्भव – संपादक अखिलेश, जुलाई 2009, लखनऊ

नया ज्ञानोदय – संपादक – रवीन्द्र कालिया, मई 2008, नई दिल्ली

पहल – संपादक – ज्ञानरंजन, अंक 73, जबलपुर

बहुवचन – संपादक – राजेन्द्र कुमार, जनवरी–मार्च 2010 वर्धा, मध्य प्रदेश

समयांतर – संपादक पंकज विष्ट, अक्टूबर 2007 – दिसम्बर 2008, नई दिल्ली

संधान – संपादक – लाल बहादुर वर्मा, जुलाई – सितम्बर 2001

संचेतना – संपादक – महीप सिंह, मार्च 2009

साक्षात्कार – संपादक – हरि भटनागर, अगस्त 2003

वाङ्.मय त्रैमासिक – संपादक – एम. फीरोज अहमद फरवरी–जुलाई 2011

हंस (आत्मकथा अंक) – संपादक –प्रेमचंद, जनवरी–फरवरी 1932

हंस – संपादक – राजेन्द्र यादव, नई दिल्ली

वर्तमान संदर्भ – संपादक – संगीता आनंद, अगस्त 2009

अनभै साँचा – संपादक – द्वारिका प्रसाद चारुमित्र, जनवरी–जून 2008, नई दिल्ली

स्त्रीकाल – संपादक – संजीव चंदन, अप्रैल 2009